श्रीमद् गोपीजनवल्लभाय नमः

श्रीमते निम्बार्क महामुनीन्द्राय नमः

# श्री निम्बार्क वेदान्त

## वेदान्त पारिजात सौरभ

प्रस्तोता

**अनन्त श्री जगद्गुरु निम्बार्काचार्य**

**गोस्वामी श्री ललित कृष्ण जी महाराज**

# श्री निम्बार्क वेदान्त

(प्रादेशिक सरकार द्वारा ससम्मान पुरस्कृत)

निम्बार्काचार्य श्री ललित कृष्ण गोस्वामी

प्रकाशक :

श्री निम्बार्क पीठ : महाजनी टोला, प्रयाग

प्रकाशक :
**श्री निम्बार्क पीठ**
१२, महाजनी टोला, इलाहाबाद - ३

प्रथम संस्करण : सं० २०२० : १,००० प्रति

द्वितीय संस्करण : सं० २०२९ : १,००० प्रति

मूल्य : १०१ रुपये

मुद्रक :
**दि इलाहाबाद ब्लाक वर्क्स (प्रा०) लि०**
२५५, चक, जीरो रोड, इलाहाबाद ✆ ४००२४३

# प्रकाशकीय

पूजनीय अनन्त श्री जगद्गुरु निम्बार्काचार्य गोस्वामी श्री ललितकृष्ण जी महाराज ने श्री निम्बार्क भाष्य के साथ ही प्रमुख वैष्णवाचार्यों के भाष्यों का लोक-भाषा हिन्दी में निष्पक्ष, प्रामाणिक एवं सरल भाव में अनुवाद किया, इसलिए स्वेदश ही नहीं अपितु विश्व के विद्वत् समाज में भी लोकप्रियता अर्जित की। विख्यात दार्शनिक एवं विद्वतजनों ने शुभ सम्मतियाँ भेजी। इधर लगातार लोगों में इन भाष्यों को प्राप्त करने की बढ़ती उत्कण्ठा देखकर श्री निम्बार्क वेदान्त को पुनः प्रकाशित कर रहे हैं।

श्री निम्बार्क वेदान्त का पहला संस्करण सं० २०२० में बांदा निवासी परमभक्त श्री मुन्नीलाल जी गुप्त के सहयोग से प्रकाशित हुआ था। जिसमें ब्रह्मसूत्र भाष्य वेदान्त परिजात सौरभ और दशश्लोकात्मक वेदान्त कामधेनु दोनों सम्मिलित थे। इधर प्रकाशन सामग्री एवं कागज आदि के बढ़ते मूल्यों को देखते हुये भाष्य को एक साथ छपाना मुश्किल पड़ गया। इसलिए इसे तीन भागों में प्रकाशित किया जा रहा है। वेदान्त कामधेनु प्रकाशित हो चुकी है जिसमें पूज्य आचार्य श्री ने ब्रह्मविद्या विवेचन के प्रसंग में श्री निम्बार्काचार्य जी के मन्त्र रहस्य षोडसी की व्याख्या भी प्रस्तुत की है यह गोपाल मन्त्र राज का रहस्यात्मक चिन्तन है जिससे ग्रन्थ की उपादेयता बढ़ गयी है। श्री पुरुषोत्तमाचार्य जी कृत रत्नमंजूषा और श्री हरिव्यासदेवाचार्य जी कृत सिद्धान्त रत्नाञ्जलि के आधार पर वेदान्त कामधेनु की व्याख्या प्रस्तुत की है।

अब श्री निम्बार्क वेदान्त को पूर्वार्द्ध और उत्तरार्द्ध दो भागों में प्रकाशित कर रहे हैं। प्रस्तुत पूर्वार्द्ध अंक में पूज्य आचार्य श्री द्वारा श्री निम्बार्क वेदान्त पर वृहद् भूमिका लगभग २१७ पृष्ठों की है जिसमें विभिन्न दार्शनिकों के पक्षों को प्रस्तुत करते हुए भगवान् श्री निम्बार्क के ऐतिह्य परिचय सिद्धान्त एवं प्राचीनतम् भाष्य पर गवेषणात्मक तथ्य प्रस्तुत किये गये हैं जो विद्वानों और शोधकों के लिए उपादेय सिद्ध होंगे। कुछ विद्वान एवं शुभचिन्तक महानुभावों ने अपने सुझाव को प्रस्तुत किये थे उन पर विचार कर कुछ संशोधन भी किया गया है।

श्री निम्बार्क वेदान्त को पुनः प्रकाशित करने के लिए निकुञ्जलीलालीन पूज्य आचार्य श्री से श्री मुन्नीलाल जी गुप्त ने विनम्र

निवेदन करते हुये पुनः प्रकाशित करने की योजना बनाई। जिसमें लगभग ४०-४५ हजार रु० की लागत आ रही है। श्री वेदान्त कामधेनु को प्रकाशित भी किया। इधर वयोवृद्ध श्री मुन्नीलाल जी गुप्त अस्वस्थ एवं अकिञ्चन अवस्था में रहते हुये भी स्वसाधन से स्वजनों और शुभचिन्तकों से द्रव्य संग्रह करते हुए वेदान्त दर्शन को शीघ्र प्रकाशित करने में तत्पर हैं। परमभागवत गुरु भक्त तथा दानवीर कर्ण सदृश्य श्री मुन्नीलाल जी गुप्त साधूवाद के पात्र हैं आपकी प्रेरणा से स्वनामधन्य महानुभावों ने अपने स्वजनों की स्मृति में पुस्तक प्रकाशन के लिए सेवायें भेजी है उनकी नामावली भी प्रकाशित की जा रही है।

पुस्तक को संशोधित एवं सुसज्जित करने में आचार्य प्रवर डॉ० चन्द्रभानु जी त्रिपाठी, डॉ० लालता प्रसाद जी द्विवेदी सुलतानपुर का विशेष योगदान रहा। अन्त में हम इलाहाबाद ब्लाक वर्क्स एवं मनोज ऑफसेट के मालिक श्रीयुत् कृष्ण कुमार जी मित्तल, श्री मनोज कुमार मित्तल की सेवाओं को भूल नहीं सकते जिनकी तत्परता एवं लगन से यह अंक आपके सन्मुख रखने को प्रस्तुत हुये हैं। आराध्यदेव श्रीमद् गोपीजन वल्लभ जी की असीम अनुकम्पा से शीघ्र ही उत्तरार्द्ध भी पाठकों के सन्मुख होगा।

**"आचार्य श्री" विष्णुकान्तु गोस्वामी**

## भक्त श्रीमन्तों की शुभ-नामावली

१. **श्री ललित बिहारी सत्यनारायण** ३,१००/- रुपये
ओमर उमर धर्मशाला, नया गाँव चित्रकूट,
जिला सतना

२. **श्री लक्ष्मीशंकर ओमर** ३,१००/- रुपये
कन्हैयालाल हरिशंकर
१२०/१४० ई ब्लाक, किदवई नगर, कानपुर

३. **गोलोकवासी बाबू अवध बिहारीलाल खरे** २,५००/- रुपये
(सुपुत्र-श्री रमेश कुमार खरे), कनाडा

४. **गुप्तदान द्वारा श्री युगुलकिशोर अग्रवाल सर्राफ** २,५००/- रुपये
३५३/ए, कटघर, मुट्ठीगंज, इलाहाबाद

५. **श्री रामप्रकाश आशीष कुमार ओमर** १,१००/- रुपये
एफ. ३५, रिजर्व बैंक कालोनी,
१६/८२, सिविल लाइन, कानपुर

६. **गोलोकवासी श्री अनन्तराम ओमर** १,१००/- रुपये
मे० भास्कर प्रसाद ओमर, छोटी बाजार, बाँदा

७. **गोलोकवासी श्री बंशीधर** १,१००/- रुपये
श्री व्रजबिहारी शरण
ओमर मेडिकल स्टोर
मु०पो० शिशोलर, स्टेशन रागौल

८. **गोलोकवासी श्री युगुलकिशोर (लल्ला भइया)** १,१००/- रुपये
मे० भगवानदास कुन्जबिहारी लाल
चौक बाजार, बांदा

९. **श्री चुन्नीलाल पुरुषोत्तमदास बजाज** १,१००/- रुपये
चौक बाजार, बांदा

१०. **गोलोकवासी गिरधारीलाल जी अग्रवाल** १,०००/- रुपये
मे० पूरनलाल सर्राफ
शास्त्री नगर, बांदा

११. **श्री बसंतलाल गुप्त सर्राफ** १,३५१/- रुपये
छोटी बाजार, बांदा

१२. **गोलोकवासी श्री सीताराम ओमर की स्मृति** १,१००/- रुपये
**श्री रामकिसन सुभाषचन्द्र ओमर**
गल्ला अढ़तिया रुरा, जि० कानपुर

## श्रद्धावनति समर्पण

जिनकी वात्सल्यपूर्ण कृपा के फलस्वरूप प्रस्तुत पुस्तक का
सम्पादन हो सका उन पूज्य पितृचरण स्वामी
राधाकृष्ण जी महाराज की सेवा में
श्रद्धावनति पूर्वक
सादर समर्पण

प्रकाशकीय

## नम्र निवेदन

परमपूज्य आचार्य चरणों की निस्सीम कृपा से हिन्दी साहित्य जगत् में "श्री निबार्क वेदांत" ग्रंथ को प्रस्तुत करते हुये अपार हर्ष हो रहा है। गतवर्ष श्री राधा अष्टमी को इस ग्रंथ के लेखन कार्य में श्रद्धेय लेखक संलग्न हुये थे, आश्विन नवरात्र में मुझे पूज्य आचार्य चरण की आज्ञा हुई कि इस ग्रंथ का प्रकाशन होना है, अतएव आज्ञानुसार चैत्र नवरात्र में ग्रंथ के मुद्रण का कार्य प्रारम्भ हुआ, जिसे कि प्रेस के अध्यक्ष श्री सोमेश्वर प्रसाद गुप्त ने बड़े मनोयोग से श्रद्धापूर्वक प्रायः दो महीने के अन्दर पूरा कर दिया। माननीय कविराज जी से इस पर सम्मति लिखने की प्रार्थना की गई। आदरणीय कविराज जी यथा सम्भव विस्तृत विचार करने के प्रयास में थे, किन्तु रूग्ण एवं कार्याधिक्य में व्यस्त होने के कारण उन्होनें जो कुछ भी सारगर्भित तथ्यपूर्ण वक्तव्य दिया है, वह ग्रंथ के गौरव प्रकाशन के लिये पर्याप्त है। माननीय कविराज जी ऐसे अर्न्तदृष्टा योगी ही तथ्य का निर्णय कर सकतें हैं, उनकी अपार कृपा के प्रति मेरा उनको साभार नमन है।

सम्मान्य राष्ट्रपति महोदय के श्री निम्बार्क वेदांत पर किये गये विचार से सिद्धान्त की महत्ता का पूर्ण परिचय मिलता है। ग्रंथ की विशेषता मैं कुछ वर्णन करूँ यह मेरी अल्प बुद्धि से परे की बात है। इसे तो जिज्ञासु विद्वान पाठक ही समझ सकेंगें। भाई जी श्री हनुमान प्रसाद पोद्दार ने श्री निम्बार्काचार्य चरण के प्रति जो श्रद्धांजलि समर्पित की है उससे ग्रंथगत विषय की विशेषता का परिचय मिलता है क्योंकि भाई जी द्वारा ही प्राचीनतम भारतीय वाङ्मय के अनुशीलन का सौभाग्य हम लोगों को मिलता रहता है, अतएव सामान्यतः उन्हें आर्ष ग्रन्थों का पारखी माना जाता है।

पूज्यवर श्री निम्बार्काचार्य पीठ के अधिपति स्वामी राधाकृष्ण जी महाराज की आज्ञा से प्रातः स्मरणीय गुरू सिद्ध श्री लक्ष्मीनारायण जी आचार्य की कृपा से पितृ पाद सेठ भगवानदास जी गुप्त की पुण्य स्मृति में "सुदर्शन ग्रंथ माला" के प्रथम पुष्प के रूप में यह ग्रंथ प्रस्तुत किया जा रहा है, इसके सौरभ से दिग्दिगन्त सुवासित हो और जिज्ञासु पाठक भृङ्ग इसका पानकर तृप्त हों इसी में मैं अपने वंश को कृतार्थ मानूँगा। श्री जी की ऐसी ही महती अनुकम्पा बनी रही तो मनीषी लेखक द्वारा सम्पादित अन्यान्य

दार्शनिक ग्रंथ भी ग्रंथ माला द्वारा शीघ्र ही प्रकाश में आवेंगें।

मेरा ऐसा विश्वास है कि साहित्य शोधकों एवं साहित्य शास्त्रियों को इस तथ्यपूर्ण गवेषणात्मक ग्रंथ से श्री निम्बार्क सम्प्रदाय के औपासनिक तथा ऐतिहासिक दृष्टिकोण को समझने में एक नवीन प्रकाश मिलेगा।

निवेदक
मुन्नी लाल गुप्त

●●
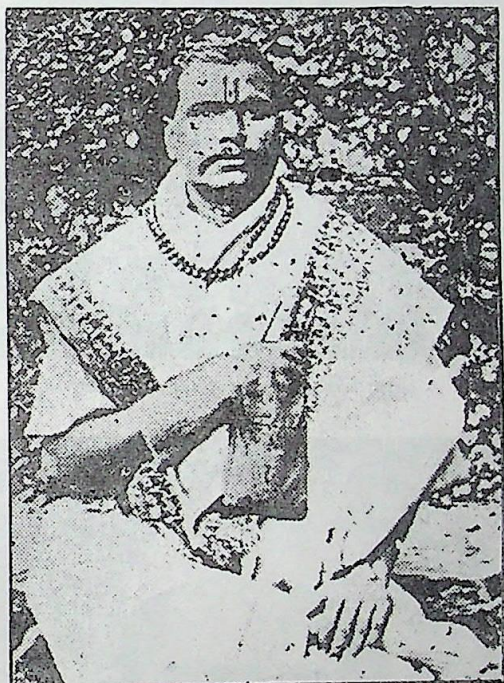
गोलोकवासी
श्री सिद्ध लक्ष्मीनारायण जी आचार्य
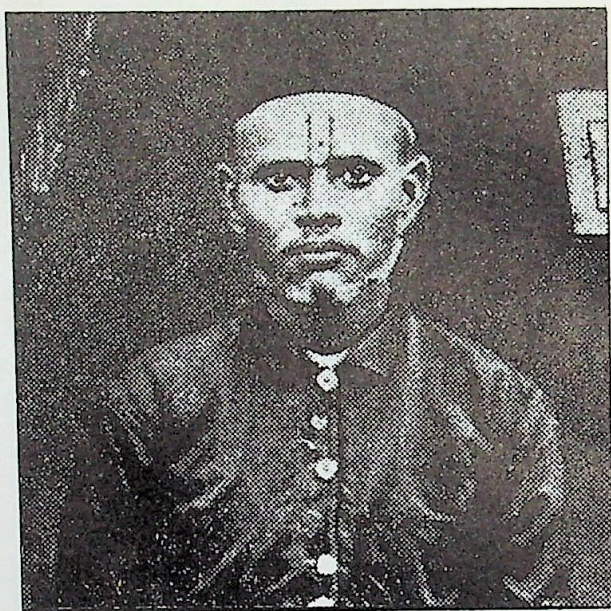
सेठ श्री भगवान दास जी गुप्त
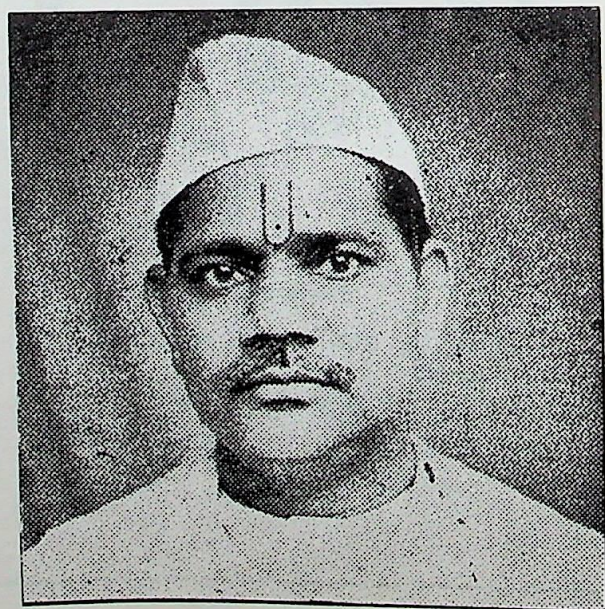
सेठ श्री मुन्नी लाल जी गुप्त — बाँदा

## कल्याण के सम्पादक

# श्री हनुमानप्रसाद जी पोद्दार की श्रद्धांजलि

भारतीय सनातन वेदान्त दर्शन को भगवान् बादरायणजी ने ब्रह्मसूत्र में गुम्फित कर जो कृपा की है, उसे सर्वप्रथम आज से सहस्त्राब्दियों पूर्व भगवान श्री निम्बार्काचार्य जी महाराज ने वाक्यार्थ रूप से सम्पादित कर दार्शनिक संप्रदायों को नवप्रकाश किया। उनके "वेदांत पारिजात सौरभ" के सर्वदिग् व्यापी सौरभ का आघ्राण कर अनेक भाष्यों का प्रादुर्भाव हुआ, जिसके फलस्वरूप सर्वदर्शनों के मूर्द्धन्य रूप में हमें वेदांत दर्शन की सुदृढ़ शृंखला दिखालाई देती है। आज का प्रायः सम्पूर्ण हिन्दु समाज उस शृंखला के आवरण में ही नियमित जीवन यापन कर रहा है।

भगवान श्री निम्बार्काचार्य जी द्वारा प्रदत्त युगलोपासना की दीक्षा से भारतीय भक्त समाज- कृतार्थ है। वर्त्तमान काल के बढ़ते हुए भौतिक सामर्थ्यों की चकाचौंध में आध्यात्मिक तत्व की जो विस्मृति हो रही है उसके निर्देशन के लिये उन मुनियों के उपदेशों का आश्रय ही श्रेयस्कर है। सम्मान्य गोस्वामी ललित कृष्ण जी महाराज ने "श्री निम्बार्क वेदात" ग्रन्थ में इस गुरुत्तर कार्य का सम्पादन किया है।

निश्चय ही इस ग्रन्थ के द्वारा नूतन उद्भावनाओं के साथ एक चेतना प्राप्त होगी। मेरी श्री आचार्य चरणों में एतदर्थ नमनपूर्वक श्रद्धाजलि समर्पित है आज प्रायः सारा ही भक्त समाज भगवान हंसोपदिष्ट भागवत परम्परा का चिरऋणी है।

—दास

**हनुमानप्रसाद पोद्दार**

## माननीय वयोवृद्ध मनीषी योगिवर

# महामहोपाध्याय पं० गोपीनाथ जी कविराज

## एम०ए०, डी०लिट्० की सम्मति

श्रद्धेय श्री ललित कृष्ण जी गोस्वामी कृत "श्री निम्बार्क वेदांत" ग्रंथ का पाठकर मेरा चित्त प्रसन्न हुआ। यह ग्रंथ दो भागों में विभक्त है। इसके पूर्व भाग में निम्बार्क वेदांत के विषय में सिद्धांत, साधन और फल के ऊपर विस्तृत आलोचना की गई है एवं उत्तर भाग में ब्रह्मसूत्र के ऊपर श्री निम्बार्क कृत "वेदांत पारिजात सौरभ" नामक वाक्यार्थ दशश्लोकात्मक "वेदांत कामधेनु" की हिन्दी व्याख्या है।

यह पुस्तक बहुत परिश्रम से संकलित की गई है। इसमें ग्रंथकार के साम्प्रदायिक परंपरा के ज्ञान का परिचय मिलता है। इसका और भी एक प्रशंसनीय वैशिष्ट्य है कि इसमें विभिन्न सम्प्रदायों के प्रति सहृदयता का भाव निविष्ट दिखाई देता है।

ग्रंथकार आचार्य निम्बार्क को द्रविड़ाचार्य से अभिन्न समझते हैं। यदि यह सत्य हो तो चार वैष्णव सम्प्रदायों के भीतर इस भाष्य का सर्वाधिक प्राचीनत्व मानना होगा। यह संभव नहीं है। परन्तु सब लोग इसे स्वीकार करेंगें या नहीं इसमें संदेह है। शंकर संप्रदाय में एक द्रविड़ाचार्य की प्रसिद्धि है। रामानुज संप्रदाय में भी उसी नाम के एक आचार्य प्रसिद्ध हैं। ये दोनों एक ही है या नहीं कहा नहीं जा सकता। परन्तु इनका एक होना असंभव नहीं है। अलवार शठकोप का भी वैष्णव ग्रंथों में कहीं-कहीं द्रविड़ाचार्य के नाम से उल्लेख किया गया है। यह भी विचारणीय विषय है।

निम्बार्क संप्रदाय के इतिहास तथा प्रचलित आचार और साधना के विषय में ग्रंथकार ने बहुत कुछ लिखा है। इसमें संदेह नहीं कि हिन्दी भाषा में लिखित वैष्णव साहित्य में इस ग्रंथ का एक विशिष्ट स्थान माना जाएगा। ऐतिहासिक तथा जिज्ञासु लोगों में इसका समधिक प्रचार वांछनीय है।

**गोपीनाथ कविराज**

# विषय-सूची
## [पूर्वार्ध]

पृष्ठ

**विषय प्रवेश** १-८

प्रतिपाद्य विषय और उससे संबद्ध विषय का सामान्य परिचय वेदांत दर्शन का प्रयोजन और महत्व, ब्रह्मसूत्र-रचना का उद्देश्य, ब्रह्मसूत्र का वर्ण्य विषय, प्रस्थान चतुष्टय पर विचार।

**प्रथम अध्याय** ९-१४

**सिद्धांत समन्वय—**

दर्शन शास्त्र की उत्पत्ति और प्रयोजन तथा दर्शन शास्त्र द्वारा की गई सांसारिक समस्याओं की विवृत्ति पर सभी दार्शनिकों का समन्वय, दर्शन शास्त्र की खंडनात्मक तथा समन्वयात्मक प्रवृत्तियों का विश्लेषण, दार्शनिक मतों के विचार समन्वय और श्री निबार्काचार्य के समन्वय सिद्धांत का विवेचन।

**द्वितीय अध्याय** १५-८०

**सिद्धांत अविरोध—**

आस्तिक और नास्तिक दर्शनों का विभाजन, तथा दर्शनों के मतों का सामान्य परिचय और उनके पारस्परिक अविरोध का दिग्दर्शन।

(१) **सांख्य दर्शन**—सामान्य परिचय और वर्ण्य विषय का विवेचन

(२) **योग दर्शन**—सामान्य परिचय और पर्यालोचन

(३) **वैशेषिक दर्शन**—सूक्ष्म विवेचन

(४) **मीमांसा दर्शन**—सूक्ष्म परिचय

(५) **वेदांत दर्शन**—विश्लेषणात्मक सामान्य विवेचन

(६) **चार्वाक दर्शन**—सामान्य पर्यालोचन और प्रभाव

(७) **जैन दर्शन**—सिद्धांत परिचय

(८) **बौद्ध दर्शन**—सिद्धांत परिचय, ब्राह्यार्थ प्रत्यक्षवाद, बाह्यार्थानुमेयवाद इन सर्वास्तिवादी शाखाओं का विवेचन, महायानी विज्ञानवाद और शून्यवाद का परिचयात्मक विवेचन

(९) **भगवान बादरायण**—वेदांत दर्शन की विशेषता, ब्रह्मसूत्र के रचयिता और रचना का काल निर्णय, पुराण संहिता काल विवेचन, वेदांत दर्शन और अन्य दर्शनों का अविरोध निरूपण

(१०) **भागवत धर्म**—भागवत धर्म के पुनरुद्धार और विकास का परिचय तथा भागवत रचना काल का निर्णय

(११) **हंस सनकादि नारद**—भागवत धर्म के उपदेष्टा रूप से परिचय

(१२) **भागवत धर्म के आदि आचार्य**—नारद भक्ति सूत्र के अनुसार भागवत धर्म के आचार्यों का परिचय, शाण्डिल्य, गर्ग विष्णु स्वामी और कौंडिन्य का विशेष परिचय

(१३) **श्री निबांर्काचार्य**—जीवन परिचय, जन्मकाल निर्णय

(१४) **वेदांत पारिजात सौरभ**—श्री निबार्काचार्यकृत ब्रह्मसूत्र के सूक्ष्म वाक्यार्थ का साधारण परिचय

(१५) **द्वैताद्वैतवादी प्राग्वर्ती आचार्य**—श्री निबार्क के पूर्व के द्वैताद्वैतवादी आचार्यो का सामान्य परिचय

(१६) **बादरायण का मत द्वैताद्वैत**—ब्रह्मसूत्र के अक्षर स्वारस्य से द्वैताद्वैतवाद का प्रतिपादन

(१७) **श्री निबांर्काचार्य का द्वैताद्वैतवाद**—श्री निबार्क का द्वैताद्वैतवाद के प्रतिनिधि आचार्य के रूप में परिचय तथा ब्रह्मसूत्र के सर्वप्रथम व्याख्याकार के रूप में ऐतिहासिक उपस्थापन

(१८) **श्री निबार्क ही द्रविड़ाचार्य**—ऐतिहासिक पुष्ट प्रमाण संचयन पूर्वक उक्त तथ्य का प्रतिपादन, श्री निबार्क और भागवत पुराण का अभिन्न संबंध स्थापन, भागवत धर्म का प्रतिनिधित्व ज्ञापन, ज्योतिष सिद्धान्त, संख्योपासना का विवेचन

(१९) **शंकराचार्य और द्वैताद्वैत**—स्वामी शंकराचार्य जी की वैष्णवी उपासना और सिद्धांत का प्रतिपादन

(२०) **द्वैताद्वैत और अन्य मत**—श्री निबार्क एवं स्वामी शंकराचार्य, स्वामी रामानुजाचार्य, स्वामी मध्वाचार्य, स्वामी वल्लभाचार्य, तथा गौडीय वैष्णवों के वेदांत सिद्धांत का तुलनात्मक विवेचन

## तृतीय अध्याय ८१-१३१

**साधन सिद्धांत—**

साधना प्रणाली का विवेचन

(१) **गुरु आचार्य**—अधिकार और स्वरूप विचार परम्परा और संप्रदाय का निरूपण, ग्रहस्थ संप्रदाय महत्व

(२) **वैष्णव मत और ईसाई मत**—श्री निबार्क की प्रेममार्गी साधना और संत ईसा, संत बर्नर्ड संत जॉन ऑफ रूइस ब्रोक, संत तेरेसा, संत जॉन ऑफ दिक्राम संत अंडरहिल आदि ईसाइयों की प्रेमोपासना का समीकरण

(३) **प्रेममार्गी इस्लाम मत**—इस्लाम मत पर वैष्णवीय प्रेमोपासना का प्रभाव कथन

(४) **निंबार्क परम्परा के सिद्ध संत**—आचार्य जी की कृतियों का परिचय, श्री गौरमुख ऋषि, उदुम्बर ऋषि, श्री निवासाचार्य, पुरूषोत्तमाचार्य, विलासाचार्य, श्री देवाचार्य, सुन्दर भट्ट, केशव काश्मीरी भट्ट, हरिव्यास, स्वभूदेव, परशुराम, वासुदेवशरण, व्रज लालशरण, स्वामी हरिदास, गोस्वामी हित हरिवंश, आदि संत आचार्यो की कृति एवं प्रभाव का सूक्ष्म परिचायात्मक विवेचन

(५) **रसोपासना में हित तत्व**—वैदिक हितोपासना की ऐतिहासिक परम्परा का विवेचन

(६) **सहज हितोपासना और सहजिया मत**—सहजिया संप्रदाय की ऐतिहासिक विवेचना

(७) **साधना तत्व**—वैष्णवीय पंच संस्कारों का वैज्ञानिक सूक्ष्म परिचय

(८) **आचार मीमांसा**—आहार शुद्धि एवं विचार शुद्धि विवेचन

## चतुर्थ अध्याय १३२-१४५

**फल सिद्धांत—**

भगवान श्री निबांर्काचार्य के प्रतिपादित मोक्ष सिद्धांत एवं प्रेमाभक्ति साधना का विस्तृत विवेचन

---
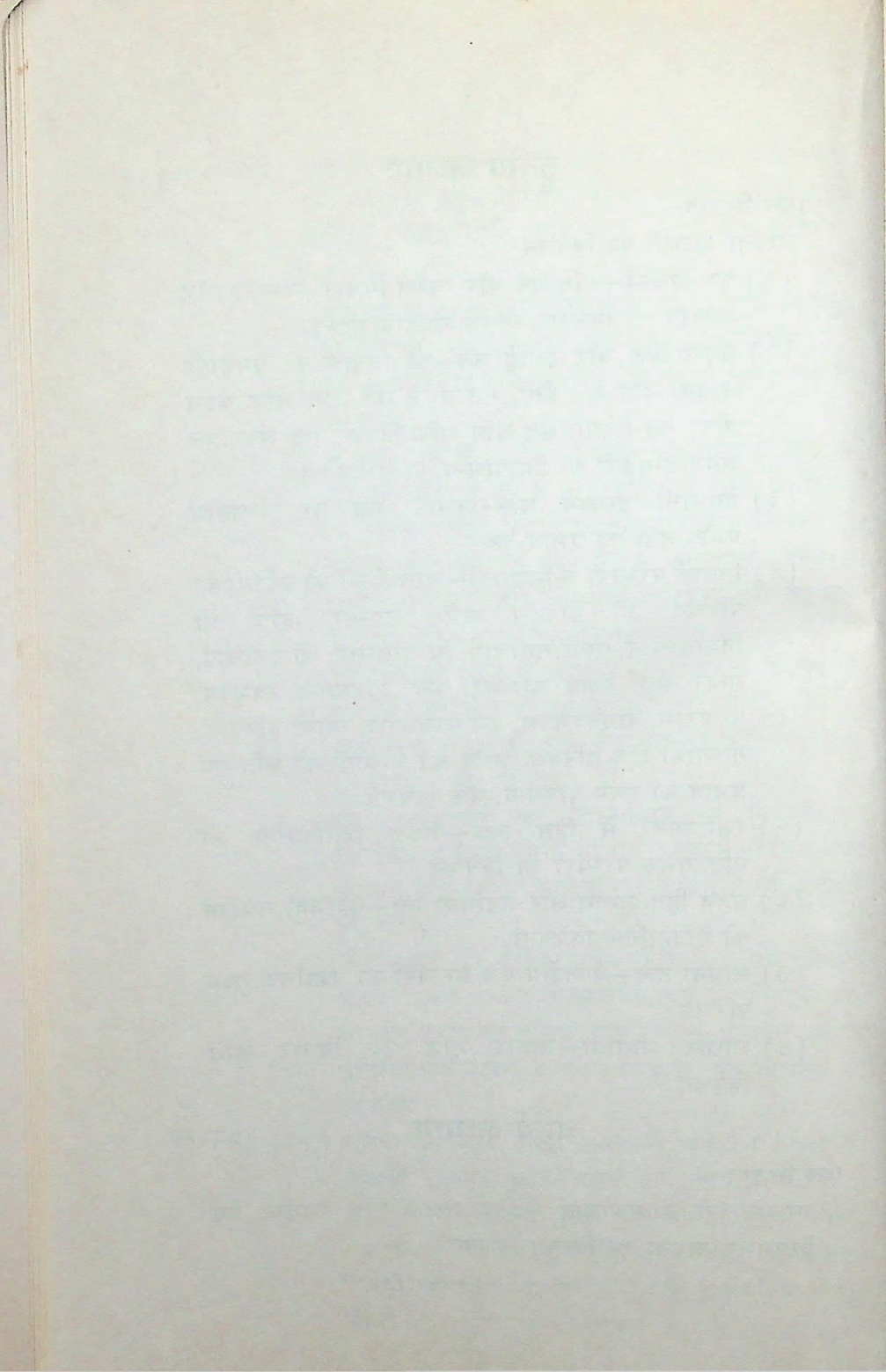
# प्राक्कथन

यो राधावर पाद पद्म युगल ध्यानानुषक्तो मुनिः,
भक्तिर्ज्ञान विरागयोग किरणैः मोहांधकारांत कृत् ।
लोकानां मत एव निम्बघटितं चादित्यनामानुगं,
निम्बादित्य गुरुं तमेव मनसा वंदे गिरा कर्मणा ।।[१]

भगवान श्री निंबार्काचार्य चरण के कल्याणमय उपदेशों को लोक में प्रस्तुत करते हुए अत्यानंद प्रतीति हो रही है । तत्त्व पिपासु इन रहस्यमय उपदेशो को सोत्कंठ पान कर आत्मसात करें और उनके उपदिष्ट मार्ग का अनुसरण कर अपने को कृतार्थ करें एवं तृप्त हों यही प्रस्तुत प्रबन्ध का प्रयोजन है ।

सम्पूर्ण विश्व में चेतन और अचेतनात्मक दो ही पदार्थ हैं । अचेतन संबद्ध विचारशास्त्र को "विज्ञान" तथा चेतन संबद्ध पर्यवेक्षण को "दर्शन" कहा गया है ।

दुःख जिहासा और सुख लिप्सा प्राणिमात्र की एक स्वाभाविक प्रवृत्ति होती है अतः इस उद्देश्य की पूर्त्ति के लिये जो कुछ भी साधन साध्य हों उन्हें ही प्राप्त करने की चेष्टा होती है । मेधावी अन्वेषक भौतिक अचेतनात्मक पदार्थों का शोध कर नित्य नवीन शीघ्र सुलभ साधनों का आविष्कार करते हैं और उनसे ही उद्देश्य की पूर्ति करना चाहते हैं । मनीषी बोद्धा आध्यात्मिक चेतन तत्त्व का आलोक प्राप्त कर जीवन की साधना द्वारा ही उद्देश्य तक पहुँचते हैं । इस प्रकार दर्शन और विज्ञान दोनों का साध्य एक है, दोनों ही उद्देश्य पूर्ति के लिए प्रायः समान उपक्रम करते हैं । परंतु दोनों की साधना एक दम भिन्न है । दर्शन आंतरिक ज्ञान शक्ति के आधार पर तथ्यों तक पहुँचने का प्रयास करता है, विज्ञान प्रयोग शक्ति के आधार पर । अन्वेषक दोनों ही हैं । प्रयोगों से प्राप्त वैज्ञानिक सत्य की तरह, चिंतन से प्राप्त दार्शनिक सत्य स्थूल आकार में प्रत्यक्ष नहीं होता, परन्तु तत्त्व क्या है ? इसका समाधान दर्शन द्वारा हो जाता है । तथ्य ज्ञान के बाद साधना द्वारा आत्मा का उत्थान करना ही दर्शन का लक्ष्य है । विज्ञान में केवल

---

१. युगल विग्रह श्री राधिका कृष्ण के चरण कमलों को ध्यान में सदा अनुषक्त, भक्ति, ज्ञान, वैराग्य संवलित भागवत दीप की ज्योतिष्मती किरणों से मोहांधकार को दूर करने वाले, विश्व के सारे मत मतांतर जिनकी उपासना मार्ग का अनुगमन करते हैं ऐसे महामुनि जगदगुरु भगवान श्री निंबार्क आचार्य के चरण कमलों में मनसा, वाचा, कर्मणा नमन है ।

तथ्यों का अन्वेषण करते जाना ही लक्ष्य है। दर्शन में तथ्यों का अन्वेषण कर जीवन को सुखमय बनाने का प्रयास भी होता है। मानव प्रकृति वाह्यवृत्ति प्रधान होती है, इसलिए सामान्यत: लोगों का झुकाव विज्ञान की ओर होता है। जीवन में उपयोगिता की दृष्टि से दर्शन और विज्ञान दोनो का स्वतन्त्र महत्व है। दोनों ही स्वतन्त्र मार्ग हैं।

प्राय: दर्शनों के प्रति आक्षेप किया जाता है कि दार्शनिक सिद्धांत दृष्टिगोचर नहीं होते, समझ में नहीं आते। परंतु दोषारोपण करने वाले यह भूल जाते हैं कि दर्शन के चरम सिद्धांत दृष्टिगोचर हो भी नहीं सकते। जो "अवाङ्मनसगोचर" हैं उन्हें बुद्धि से समझा भी कैसे जा सकता है। दार्शनिक तथ्य तो स्वयं प्रकाश हैं। जिनके लिए स्वाच्छातिस्वच्छ "तल" अपेक्षित है। वह "तल" अंत:करण ही है। अंत:करण की शुद्धि होने पर ही स्वयं प्रकाश तत्त्व के प्रकाश की आशा की जा सकती है। इसीलिए दार्शनिक तत्त्व को स्वानुभवजन्य कहते हैं। अंत:शुद्धि के लिए साधना और श्रम अपेक्षित है। तथ्य की महत्ता तो स्वत: श्रम से ही जानी जा सकती है, श्रम ही सुबोध उपाय है। विज्ञान के जो तथ्य आर्विभूत हुए हैं, या हो रहे हैं, उनके लिए साहस, साधना और अनुसंधान की परम आवश्यकता सिद्ध है। दृष्टिगोचर वैज्ञानिक तत्वों को एक बुद्धिमान अन्वेषण करता है तो अनेक जन उससे लाभ उठाते हैं। परंतु दार्शनिक तत्त्वों के विषय में ऐसा नहीं है कि एक आदमी की साधना और अंत:ज्ञान जन-समाज के लिए उपकारी हो। इसमें तो एक व्यक्ति की साधना और ज्ञान के फलस्वरूप सिद्धांत जो अनेक व्यक्ति के समक्ष होता है उसे स्वत: हर एक को साधना और अनुष्टान द्वारा संपादित करना पड़ेगा तभी वह स्वानुभवजन्य हो सकता है। वैज्ञानिक तत्वों के विषय में तो ऐसा है कि प्रयोगकर्त्ता अन्वेषकं की बातों और सिद्धान्तों पर विश्वास करके उसे स्वीकार कर लिया जाता है। यदि कहीं संशय होता भी है तो अन्वेष्टा के प्रदर्शित मार्ग के अनुसरण से स्वयं प्रयोग करके उसे जाना जा सकता है। यथार्थ में वैज्ञानिक और दार्शनिक के अनुसंधान आयास में कोई बहुत बड़ा अंतर नहीं है, परिश्रम भी दोनों का लगभग बराबर ही है। मुख्य भेद इतना ही है कि वैज्ञानिक अनुसंधान में "अर्थबल" की अपेक्षा होती है, तो दार्शनिक अनुसंधान में "आत्मबल" की। दर्शन का विकास आत्मवाद के रूप में निखरा। मनीषी दार्शनिकों ने अंत:करण में ही तथ्य की प्राप्ति की और चिर सुख शांति का मार्ग प्रशस्त कर समाज के समक्ष उपस्थित किया। विज्ञान का विकास आधिभौतिक रूप से हुआ, जिससे कि मानव ने दुर्लभ भौतिक सामर्थ्य प्राप्त की। आज का

समाज दिनानुदिन वैज्ञानिकों के आश्चर्यजनक अनुसंधानों से वैभव और विलास के साधनों को प्राप्त कर रहा है तथा सामर्थ्य को प्राप्त कर अपनी सत्ता को सर्वोपरि स्थापित करने के लिए चेष्टा कर रहा है। आज प्रायः वैकन को लोग आधुनिक विज्ञान शास्त्र का जनक मानते हैं। उसने वैज्ञानिक परिभाषायें निश्चित की हैं। प्रत्यक्ष प्रधान होने से विज्ञान की उन अभिनव परिभाषाओं पर लोगों की दृष्टि गई और लोग विमान की ओर आकृष्ट हुए। लोगों ने समझा कि अब दर्शन का युग गया, विज्ञान का प्रत्यक्ष युग आया है अतः लोग वैज्ञानिक होने में गौरव का अनुभव करने लगे। वैज्ञानिकों ने आत्मतत्त्व पर भी भौतिक दृष्टि से विचार किया है अतएव लोगों को दर्शनशास्त्र के अपरोक्ष तत्त्वों को जानने की कोई अभिरुचि नहीं रह गई है।

दुःख की आत्यंतिकी निवृत्ति और चिर सुख शांति किस मार्ग से प्राप्त हो सकती है यह विचारणीय विषय है। वैज्ञानिक सामर्थ्यों से इस उद्देश्य की पूर्ति हो जाती है, ऐसा हम प्रत्यक्ष और परोक्ष दोनों अनुभवों से नहीं कह सकते। भौतिक साधनों के अभाव में मनुष्य आनंद और शांति से जीवन यापन कर सकता है पर आध्यात्मिक और नैतिक सामर्थ्य के बिना जीवन कष्टकर अशांतिमय हो जाता है। ऐसा आज भी सूक्ष्म पर्यवेक्षण के द्वारा भली-भाँति समझा जा सकता है। कोई जन समाज या राष्ट्र बिना आध्यात्मिक शक्ति के स्थिर नहीं रह सकता। आत्मोत्थान ही सफलता का मार्ग है, विज्ञान तो जीवन का गौण सहकारी साधन मात्र है।

वस्तु तत्व का यथार्थ निर्णय करने वाला विचार दर्शन कहलाता है "दृश्यते वस्तु याथात्म्यं अनेन इति दर्शनम्।" आत्मा और परमात्मा जगत् माया आदि का ज्ञान दर्शनशास्त्र से होता है। किसी भी मत, धर्म, सम्प्रदाय का स्थायी आधार उसका दर्शन ही होता है।

दर्शनों की विविध प्रवृत्तियाँ हैं। न्याय, वैशेषिक और सांख्य ये तीनों प्रवृत्ति प्रधान दर्शन हैं, तो योग बौद्ध और जैन दर्शन निवृत्ति प्रधान है। मीमांसा दर्शन प्रवृत्ति परक है तो चार्वाक दर्शन पूर्ण प्रवृत्ति परक। वेदांत दर्शन उभयविध है। सभी दर्शनों ने विज्ञान की सहकारिता भी किसी न किसी रूप में स्वीकार की है। प्रायः सभी ने "ज्ञान क्रियाभ्यां मोक्षः" इस सिद्धांत को माना है। वेदांत दर्शन में ज्ञान और विज्ञान के साथ व्रह्म के अस्तित्व की एक विशेषता है।[१] भगवान श्री निंबार्काचार्य जी ने ज्ञान

---

१. "ज्ञान विज्ञानमास्तिक्यं व्रह्म कर्म स्वभावजनम्"। गीता १८।४२॥

विज्ञान दोनों का अस्तित्व भी ब्रह्म में ही माना है तथा उन्हें ब्रह्म का अंश मानकर यथार्थ कहा है ।[1] स्वामी शंकराचार्य जी ने चेतन पदार्थ को ब्रह्म तथा अचेतन पदार्थ (विज्ञान) को माया कहकर मिथ्या कहा है। इस प्रकार स्वामी शंकराचार्य जी ने विज्ञान को तिरस्कृत पदार्थ माना है। स्वामी निंबार्काचार्य जी ने विज्ञान को ब्रह्म का अंश मानकर जीवन में विज्ञान की उपयोगिता स्वीकार की है। श्री निंबार्क जी ने जीवन में संयम, साधना और संलग्नता को बड़ा महत्व दिया है। संयमित और उपकारी विज्ञान को वे जीवन में उपयोगी मानते हैं। ज्ञान और विज्ञान की कल्याणकारी साधना में वे ब्रह्म का अस्तित्व मानते हैं ! भक्ति दर्शन का जो सिद्धांत आचार्य जी ने जगत् के समक्ष उपस्थित किया है, वह स्वतः साधना और अनुष्ठान का विषय है। निरंतर साधना और संयम से ही चिरशांति और सुख प्राप्त हो सकता है। विज्ञान में ब्रह्म का अस्तित्व न मानने पर ही विनाश लीला होती है। जब चेतन और अचेतन दोनों ही पदार्थ ब्रह्मात्मक हैं ऐसी धारणा कर ली जावेगी तब चेतन जीवन द्वारा की गई अचेतन पदार्थ की साधना विनाशकारी हो ही नहीं सकती। ब्रह्मात्मकत्व स्वीकार कर लेने पर विज्ञान का साधक कृपा और दीनता (दयालुता) से आर्द्रचित्त होकर विज्ञान द्वारा विश्व कल्याण का ही संपादन करेगा। आचार्य जी, जीवन को ब्रह्ममय बनाने की सलाह देते हैं और इस सकाश से जीवन की कटुता, द्वेष आदि दुर्भावनाओं को त्याग कर सौमनस्य, दयालुता आदि के संग्रह को जीवन की सार्थकता मानते हैं। इसके लिए उन्होंने भक्ति योग की प्रेममयी साधना स्वीकार की है। महात्मा बुद्ध के समान वे कर्मठ जीवन पथ को त्याग कर जंगल में जाकर एकांत साधना की सलाह नहीं देते। उनके मत में तो जीवन में प्रेममयी साधना द्वारा ब्रह्मात्मक जगत की सेवा और सौहार्द्र ही उपयुक्त साधना है। आज के विश्वव्यापी कटु वातावरण में जो दौर्मनस्य व्याप्त है, उसे जंगल का मार्ग दिखलाने से नहीं छुड़ाया जा सकता और न केवल वेदांत के आदर्श उपदेशों से ही बदला जा सकता है। इस दौर्मनस्य को सौमनस्य में परिवर्तित करने के लिए भक्तियोग की प्रेममयी समत्व योग की साधना ही समर्थ है। श्री निंबार्काचार्य जी के इस प्रेम के सिद्धांत में जगत का हित निहित है। यही जगत का व्यावहारिक सिद्धांत है।

यूनानी "फिलासफ" शब्द ज्ञान और प्रेम दोनों अर्थों में प्रयोग किया

---

१. "सर्वं हि विज्ञानमतोयथार्थकम् ।" दशश्लोकी

जाता है।

श्री निंबार्काचार्य जी का सिद्धांत इन दोनों अर्थों का द्योतन करता है।

वर्तमान त्रस्त विश्व भगवान श्री निंबार्काचार्य जी के प्रेममय सिद्धांत को आत्मसात् करे ऐसी ही इस ग्रंथ की प्रस्तावना के साथ कामना है। आचार्य चरण की उपदिष्ट साधना को पूर्णतया आत्मसात न करने के कारण प्रस्तोता द्वारा किये गये सिद्धांत संपादन में गंभीरतम त्रुटियाँ भी रह जावेंगी। इसे क्षमा तो आचार्य चरण ही करेंगे जिन्होंने इस कार्य के लिए दुस्साहस और प्रेरणा प्रदान की है। अपूर्ण जीवन में पूर्ण सिद्ध संतों के अनुभूत सिद्धांतों को पूर्णतया समझने या समझाने की क्षमता हो भी नहीं सकती, अत: अपूर्ण जीवों द्वारा त्रुटियों का अन्वेषण और आलोचना भी होगी ही, यह अपूर्ण जीवन की स्वभाव सुलभ बात है। प्रस्तोता का तो विनम्र अनुरोध है कि प्रस्तुत प्रबंध में छिद्रान्वेषण करने के बजाय आचार्य चरण के उपदेशों को जीवन की साधना में उतारने की चेष्टा की जावे तो अधिक कल्याण और हित होगा।

—लेखक
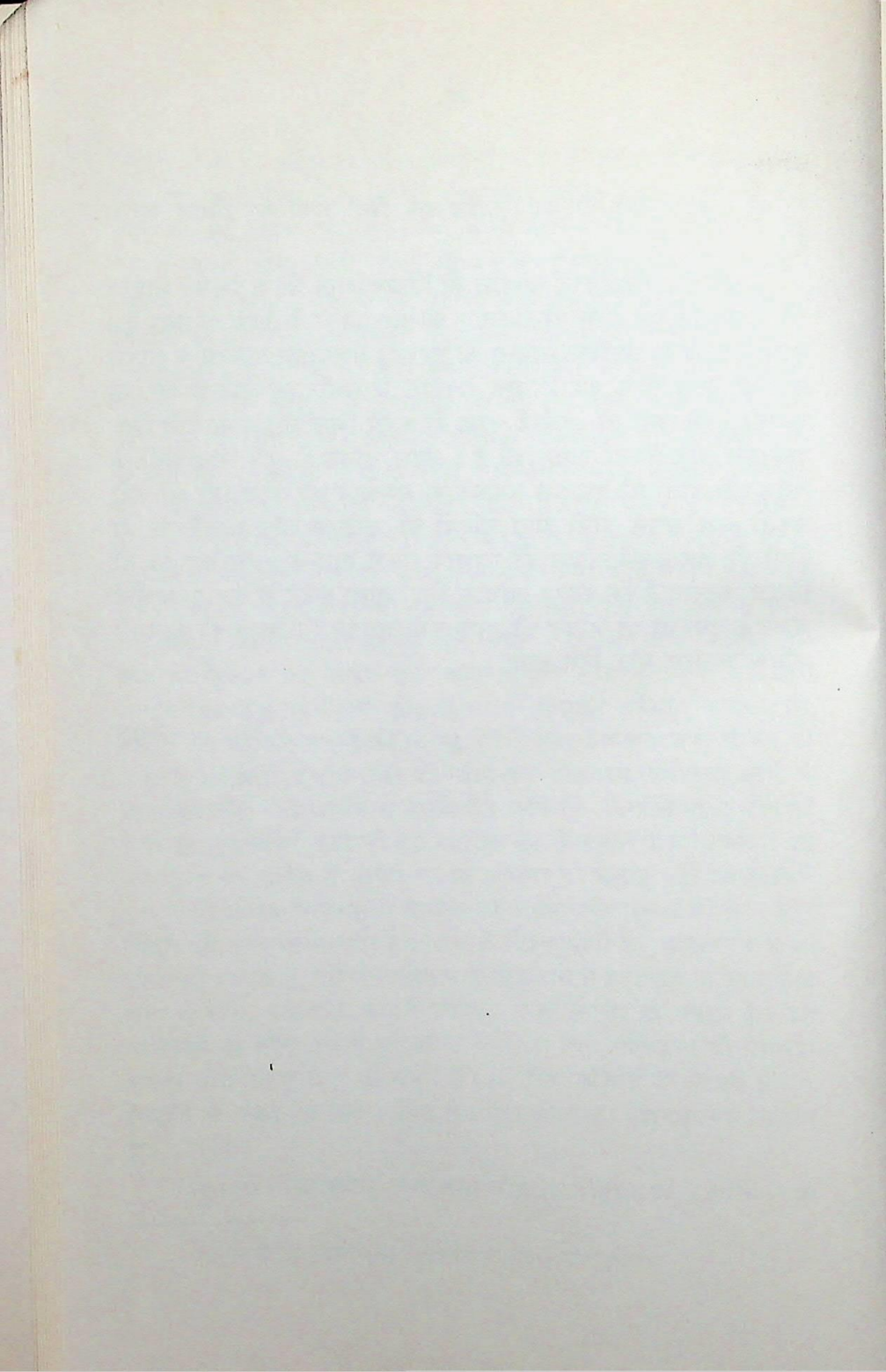
# निंबार्क वेदान्त
[पूर्वार्ध]

# विषय-प्रवेश

भारतवर्ष सदा से तपस्या एवं अध्यात्मचिंतन की पवित्र भूमि रही है। अध्यात्मज्ञान का अभ्यास, दर्शन और भावना का क्रम इस देश में सृष्टि के आदि से ही अक्षुण्ण रूप से प्रवाहित हो रहा है। आध्यात्मिक आदर्शवाद की अभिव्यक्ति भारतीय जीवन में एक रस है। अन्य देशों में सामान्यतः संस्कृति का मूलमंत्र भौतिक राष्ट्रीयता ही रहा है, परन्तु भारतीय राष्ट्रभावना के मूल में आध्यात्मिकभाव ही विकसित है।

अध्यात्म रहस्य के प्रकाशक वेद भारत की वह चिंतामणि है, जिसमें विश्व का संपूर्ण ज्ञान निहित है। भारत में इस वेद का आविर्भाव और तिरोभाव सदा होता रहता है। सृष्टि के प्रारंभिक दशा में महर्षियों के अन्तःकरण में वेदों का तथ्य सुनाई देता है (जैसे कि रेडियोयंत्र द्वारा दूरस्थ शब्द सुनाई देते हैं) तपः पूत महर्षियों का स्वच्छतम अंतःकरण ही शक्तिशाली रेडियोयंत्र है, जिसमें अखण्डनाद का प्रकाश होता है। जिन महापुरुषों के अन्तःकरण में वेद आविर्भूत होते हैं, वे ही मंत्रदृष्टा महर्षि हैं। वस्तु का तत्त्वतः नाश नहीं होता, अपितु उसका रूपांतरमात्र होता है। यह आज के वैज्ञानिकों ने अपना मत स्थिर किया है। वेदों ने इस सिद्धांत को सहस्रों वर्ष पूर्व ही निश्चित कर दिया था, उसमें वस्तु का आविर्भाव और तिरोभाव मात्र ही माना है, नाश नहीं। वैदिक ऋषि प्राकृतिक वस्तुओं का भी नाश नहीं मानते, जैसा कि "सूर्याश्चंद्रमसौधातां यथा पूर्वमकल्पयत्"[1] से स्पष्ट है। उनके मत में संसार का आविर्भाव और तिरोभाव परमात्मा की इच्छाशक्ति (Power) के आधार पर सदा होता रहता है। इसी प्रकार ज्ञान का प्रादुर्भाव भी परमात्मा की इच्छाशक्ति से ऋषियों के पवित्र अंतःकरण में अंतर्ज्ञान (Intuition) के रूप में हो जाता है, वही वेद है। ज्ञान का पूर्ण प्रकाश, वेदों के शिरस्थानीय उपनिषदों में हुआ है। विश्व के समस्त मानव समाज को नव चेतना देकर आत्यंतिक शांति प्रदान करने वाले, उपनिषदों के श्रेयस्कर सिद्धांत ही हैं। वेदों के शिरस्थानीय होने से इन्हें आम्नाय मस्तक भी कहते हैं। उपनिषद्, वेदों के चरम तथ्य सिद्धान्त, उपासना या आत्मशुद्धि का प्रकाश करते हैं।[2] वेदों में ज्ञानकांड, कर्मकांड और

---

१. सूर्य, चंद्र आदि जैसे प्रथम थे, वैसे ही उनकी पुनः कल्पना हुई।

२. "षद्‌ल विशरण गत्यवसादनेषु" धातु के प्रथम उप और नि उपसर्ग लगाने से उपनिषद् शब्द बनता है, जिसका तात्पर्य होता है, कर्मों की आसक्तिरूप वासना का नाश होकर, ज्ञान के अहं का शिथिल होकर आत्मशुद्धि होना। विशरण (नाश) अवसादन (शिथिलता) गति (प्राप्ति)।

उपासनाकाण्ड रूप से तीन कांड हैं । मानव की ज्ञानशक्ति ओर क्रियाशक्ति का विनियोग ही ज्ञानकांड का विषय है । ज्ञानशक्ति और क्रियाशक्ति का संतुलित रूप ही उपासनाकाण्ड है । उपासना का रहस्य ही उपनिषदों का विषय है । "उपनिषद्यते प्राप्ते ब्रह्मात्मभावोऽनया इत्युपनिषद् ।"[१] इस अर्थ के अनुसार अध्यात्मतत्त्व की प्राप्ति ही उपनिषद् है, ऐसा निश्चित होता है । इसी को ब्रह्मज्ञान, आत्मज्ञान, तत्त्वज्ञान आदि कहा गया है, इसलिये उपनिषद् ब्रह्म विद्या है, जिससे समत्वदर्शन होता है । अज्ञान की ग्रंथियों का भेदन होकर, समस्त संशयों का विघात हो जाता है । तथा कर्मों की चंचलता संयत होकर चित्त का समाधान हो जाता है । यही अत्यंत सुख की कुंजी है । इसी को प्राप्त करने की चेष्टा की है, वह उनका स्वतंत्र दर्शन का सिद्धांत हो गया ।

मंत्र और ब्राह्मण दो मिलकर वेद कहलाये[२] । मंत्रभाग, संहिताभाग है, जो कि पद्यात्मक है । ब्राह्मण भाग गद्यात्मक है, इसमें अधिकांश कर्मकाण्ड का विवेचन है । वेद का अन्तिम भाग आरण्यक है । अरण्य (जंगलों) में बैठकर विश्व की पहेली सुलझाई गई उसका निष्कर्ष ही, इन आरण्यकों में वर्णन किया गया है । आरण्यकों का अंतिम भाग उपनिषद् है । आरण्यक ज्ञानकांड है तथा उपनिषद् उपासनाकांड । श्रद्धापूर्वक गुरु के समीप में बैठकर ब्रह्मतत्व को प्राप्त कराने वाली विद्या का व्याख्यान उपनिषदों में किया गया है ।[३] उपनिषद् सरल, सुबोध, हृदयस्पर्शी एवं मार्मिक भाषा में गंभीरतत्त्व का विवेचन करते हैं । संपूर्ण दर्शनों की विचारधारा के मूल उत्स उपनिषद् ही हैं ।

भारत के अंत: चेताओं ने जीवन-साधना के वे मार्ग प्रशस्त किये हैं, जो स्थाई निधि हैं । जो युगों से मानव हृदय को निर्मल बनाते आये हैं और बनाते रहेंगे । भारतीय इतिहास में जगद्विजयी सम्राटों का वह महत्व

---

१. जो ब्रह्मात्मभाव की प्राप्ति करावे वह उपनिषद् है ।"

२. मंत्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम् ।

३. "तद्विज्ञानार्थं सद्गुरुमेवाभिगच्छेत् । समित् पाणि: श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठं । तस्मै स विद्वान् उपसन्नाय सम्यक् प्रशांत चित्ताय शमन्विताय । येनाक्षरं पुरुषं वेद सत्यं प्रोवाच तां तत्त्वतो ब्रह्म विद्याम् ।"

[आत्मतत्त्व को जानने के लिये, हाथ में समिधा लेकर, तत्त्ववेत्ता, ब्रह्मनिष्ठ गुरु की शरण में जावे । गुरु शरणापन्न शांत जितेन्द्रिय उस शिष्य को ब्रह्मविद्या का विवेचन करे, जिससे वह कृतार्थ हो जावे]

—मुण्डकोपनिषद् १।२।१२।।

नहीं है, जो इन दर्शनवेत्ता तपोनिष्ठ महात्माओं का है। जिन्होंने दुख निवृत्ति और सुख प्राप्ति का बहुजन हिताय की भावना में मार्ग अन्वेषण किया था। उनकी सदा से—

**"सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयाः।**
**सर्वे भद्राणि पश्यंतु मा कश्चिद् दुःख भाग्भवेत्॥"**

"सभी सुखी हों, सभी निरामय (रोग रहित) हों, सभी शुभ दर्शन करें, कोई भी दुःखी न हो। इस कल्याणमय सिद्धांत की भावना रही है। उन महर्षियों ने मानवीय अनुभवों के अज्ञात और गंभीर मार्ग का प्रदर्शन करने की सतत् चेष्टा की है। उन लोगों ने जीवन की गूढ़तम समस्याओं को अंतस्तल में अन्वेषण कर, समाधान रूप से जो परिणाम प्राप्त किये और जगत् के समक्ष उपस्थित किए वे भौतिक तत्त्वों से अतीत हैं। मनीषियों की सूक्ष्म मेधा से देखे गये वे सिद्धांत ही दर्शन हैं।[१] जो रहस्य उन्होंने देखा, वह उनके तप, दम और निष्कामकर्म के अनुष्ठान का उत्तम फल है।[२] इस प्रकार उनका प्रशस्त उपासना का मार्ग ज्ञानशक्ति और क्रियाशक्ति का समन्वित रूप था। जिन्होंने केवल ज्ञानशक्ति अथवा केवल क्रियाशक्ति के आधार पर अपने मार्ग को प्रकाशित करने की चेष्टा की है, वे उतने सफल नहीं हो पाये हैं। उपनिषद् ने दोनों के संयोग से अपने श्रेयस्कर मार्ग को प्रशस्त किया है। औपनिषदिक इस उभय-पक्षीय मार्ग का जिस दार्शनिक ने अनुगमन किया है, वही अति सफल हो पाया है। आत्मदर्शन, मनन, चिंतन और विश्लेषण ही दर्शन का विषय है। वेदों से लेकर आज तक, आत्मशोधन के यही साधन समीचीन और उपयुक्त रहे हैं। सभी भारतीय दर्शन, जीवन की गंभीरता और पूर्णता के पक्षपाती रहे हैं। वे जीव को दयनीय दशा से उठाकर जीवन में ही उच्चतमकोटि में पहुँचाने का प्रयास करते रहे हैं, जिस कोटि में भौतिक बन्धनों का प्रतिबंध नहीं रहता, तथा जिसमें आत्मसाम्य का साम्राज्य एवं मैत्री, करुणा, मुदिता और उपेक्षा की भावना रहती है। यही आत्मैकत्व का सिद्धांत और वास्तविक विश्वभ्रातृत्व है। वेदों का यही वास्तविक प्रतिपाद्य और चरमोत्कर्ष है। इसको धारण करना ही धर्म है। यही दर्शन और धर्म का सामंजस्य है। इसी को मनु जी ने अमृतत्त्व कहा है।[३]

---

१. "दृश्यते अनेन इति दर्शनम्"

२. "तस्यैतपोदमः कर्मेति प्रतिष्ठा" (केनोपनिषद् ४।८)

३. **सर्वेषामापि चैतेषां आत्मज्ञान परं स्मृतम्।**
**तदग्र्यं सर्व विद्यानां प्राप्यते ह्यमृतं ततः॥** मनुस्मृति अ० १२॥

संपूर्ण भारतीय दर्शन इस अमृतत्त्व, प्राप्ति के लिए सतत् चेष्टा और प्रयास करते रहे हैं, सभी का एकमात्र यही ध्येय है। इस अमृतत्व प्राप्ति में सब एक मत हैं, उनमें कोई विरोध नहीं है। अंत:साधना में भी करीब-करीब एक ही ढंग से संलग्न होते हैं। फल प्राप्ति भी प्राय: सभी को समान रूप से हुई है। जो कुछ भी विभिन्नता दृष्टिगत होती है, वह विचारों की है। प्रत्येक के विचारने की और विषय को उपस्थित करने की शैली की विभिन्नता तो इस बात की पुष्टि करती है, कि यह भारत देश बुद्धिमानों और मनीषियों तथा अन्वेषकों का भण्डार है। यहाँ अन्धविश्वास भी विचारपूर्वक ही किया गया है। वाह्य दृष्टि से तो सदा अंध परन्तु अंत: से सदा जागरूक रहे हैं। इसीलिए इन मनीषी विचारकों ने संपूर्ण विश्व का सदा से नेतृत्व किया है।[१]

आत्मविचारकों की श्रृंखला में जब कभी भी उत्क्रमण होने लगता है, तभी कोई न कोई महापुरुष, सत्यवती (वेदमाता श्रुति) के गर्भ से परमात्मतत्त्व का प्रकाश करता है। वही युग का प्रवर्त्तक आत्मवेत्ताओं का शासक तथा शास्त्रों का विवेचक व्यास कहा जाता है।[२] सम्पूर्ण प्रचलित मतांतरों का समन्वय कर श्रुति-मत से उसका सम्बन्ध स्थापन करना ही व्यास की विशेषता होती है। भगवान् वादरायण व्यास भी इसी कोटि के व्यास थे। उन्होंने स्वकालीन प्रचलित विचारों को श्रौत परंपरा से समन्वय कर, अविरुद्ध मार्ग को प्रशस्त किया तथा साधना का उचित मार्ग प्रदर्शन कर, परमात्म प्राप्ति रूपी फल को वितरण किया। ब्रह्मसूत्र में उनका यह प्रयास पूर्ण रूप से सफल हो पाया है। इसीलिए भारतीय वेदांत सम्प्रदाय का वह मुख्य आधारस्तम्भ है।

ब्रह्मसूत्र के चार, समन्वय, अविरोध, साधन और फल आदि अध्यायों में प्रचलित विभिन्न बिखरे हुए विचारों को समेट कर वेद रूपी वृक्ष में ही

---

१. **एतद्देश प्रसूतस्य सकाशादग्र जन्मनः,**
**स्वं स्वं चरित्रं शिक्षेरन् पृथिव्यां सर्व मानवाः॥** [मनुस्मृति २।२०]

२. **कालेन मीलितधियामवमृश्य नृणांस्तोकायुषां स्वनिगमोवत दूरपारः।**
**आविर्हितस्त्वनुयुगं स हि सत्यवत्यां वेद द्रुमं विटपशो विभजिष्यतिस्म॥**

[जब समय के फेर से आयु एवं बुद्धि की क्षीणता होने लगती है, तब वेद तत्त्व का प्रकाश करने के लिए, सत्यवती के गर्भ से व्यास रूप में प्रकट होकर वेद रूपी वृक्ष की विभिन्न शाखाओं के रूप में प्रचलित मतों की स्थापना स्वयं परमात्मा ही करते हैं।] भागवत २।७।३६।

पल्लवित किया गया है । सत्यवती सरस्वती श्रुति में विश्व का सम्पूर्ण ज्ञान निहित है । उसके अतिरिक्त कुछ भी नहीं है । सब कुछ उसी में व्याप्त है । सारे मत-मतांतर सत्यवती श्रुति के गर्भ में पोषित होकर महान् से महान् हो जाते हैं ।[१]

भगवान् कृष्ण द्वैपायन वेद व्यास ने स्वयं सत्यवती के गर्भ से प्रकट होकरवेदों का जो विस्तार उपनिषदों के रूप में किया, वही वेदों का प्रतिपाद्य सिद्धांत, वेदों का तात्पर्य और वेदों का मंतव्य अभिप्राय है, अत एव वह वेदों का अंतिम उत्कृष्ट वेदांत है । भगवान् वादरायण व्यास ने इसी वेदांत तत्त्व को युक्तिपूर्ण ढंग से ब्रह्मसूत्रों में गुंफन किया है । इसमें शरीर स्थित जीवावस्थापन्न परमात्मा के अंश का विवेचन किया गया है, अत एव यह शारीरिक मीमांसाशास्त्र है । वादरायण ने इसी को गीता के अठारह अध्यायों में पुष्पित कर श्रीमद्भागवत में फलित किया है ।

वेदांतविद् आचार्यों ने इन्हीं तीनों पर अपने सिद्धांतों की स्थापना की है । ये वेदांतियों के श्रुतिप्रस्थान (उपनिषद्) स्मृतिप्रस्थान (गीता) और न्यायप्रस्थान (ब्रह्मसूत्र) हैं । सिद्धांतप्रस्थान (भागवत) भी वेदांतियों का उपजीव्य फलप्रस्थान है । इस प्रकार विवेचन करने पर ज्ञात होता है कि वेदों के सिद्धान्तों का समन्वय श्रुतिप्रस्थान, अविरोध (एकता) । न्यायप्रस्थान, साधना स्मृतिप्रस्थान तथा फल सिद्धांतप्रस्थान है ।[२]

जिन वेदांतचार्यों ने इन प्रस्थानों के अक्षर स्वारस्य से भाव प्रकाशन किया है, वह उनका वाक्यार्थ है और जिन्होंने क्लिष्ट कल्पना, अध्याहार और अर्थापत्ति से अर्थ प्रकाशन किया है वह भाष्य है । ब्रह्मसूत्र के अर्थ करने में तीन युक्तियाँ की गई हैं, शास्त्र संगति, अध्याय संगति और पाद संगति ।

भगवान् श्री निंबार्काचार्य जी ने ब्रह्मसूत्र का वाक्यार्थ ही प्रस्तुत किया है, जो कि "वेदांत पारिजात सौरभ" के नाम से प्रसिद्ध है । इस ग्रंथ के पूर्वार्ध में चार ही अध्याय हैं, जिनमें क्रमशः प्रागैतिहासिक गवेषण से युक्त

---

१. "सरस्वती श्रुती महती महीयताम्"

२. कृष्ण द्वैपायन पराशर मुनि के पुत्र भगवान् श्री कृष्ण के समकालीन थे । वेदों को व्यास करने वाले हैं । वादरायण व्यास पुराणों, ब्रह्मसूत्र और गीता के प्रकाशक व्यास हैं । अगले प्रकरण में इसका सयुक्तिक विस्तृत विवेचन किया गया है । जैसे कि भगवान् श्रीकृष्ण और उनकी वाङ्मयी पुराण मूर्ति में ऐक्य प्रतिपादन किया गया है, वैसे ही कृष्ण द्वैपायन और वादरायण की एकता समझी जाती है ।

तथ्य का समन्वय, अविरोध, साधन और फल का विवेचन करने की चेष्टा की गई है । शास्त्र संगति का पूर्ण रूप से सहारा लिया गया है, युक्ति तो गौण है। उत्तरार्ध में श्री निंबार्काचार्य जी के वाक्यार्थ तथा दशश्लोकी का सटिप्पण अर्थ प्रस्तुत किया गया है । श्री निंबार्काचार्य जी ने अपने व्याख्यान में शास्त्र संगति की ही प्रधानता रक्खी है और युक्ति को सहायक गौण रूप से उपस्थित किया है । आचार्य जी की शास्त्र निष्ठा उनकी पूर्ण आस्तिकता का उदाहरण है ।

---

## प्रथम अध्याय

# सिद्धांत समन्वय

सुबुद्धि मानव सदा से अनुक्षण, जागतिक व्यवहार में दुःखात्मक अनुभूति करता आ रहा है। उसे सदा यह विकल्प होता रहा है कि इस प्रपंचात्मक जगत् का मुख्य कारण कौन है, हमारी उत्पत्ति का कारण कौन है, कैसे और किससे जी रहे हैं, किसमें स्थित हैं और किसके अधीनस्थ होकर सुख और दुःख की निश्चित व्यवस्था में हम चल रहे हैं ?[१] इसको सुलझाने के लिए जो प्रयास किया गया वही दर्शनशास्त्र का सिद्धांत है। मति वैचित्र्य तथा रुचि वैचित्र्य के कारण दृष्टिकोण की विभिन्नता भी स्वाभाविक सी बात है अतः विचारकों ने विभिन्न दृष्टिकोणों से इसका हल खोजा, वही दर्शनशास्त्र के विभिन्न मत बन गये।

सांसारिक सुख भी दुःखात्मक ही प्रतीत होता रहा है, इसलिए वास्तविक सुख बाहुल्य की खोज सभी ने की, जिसमें दुःख और दुःख के कारणों का लेश भी नहीं है। वह सुख बाहुल्य उन्हें वाह्य जगत् में न मिल सका, इसलिए उन्होंने अपने अंदर ही उसे खोजने की चेष्टा की और उन्हें उसमें सफलता मिली। यह आत्मदर्शन भी उनकी स्वतः एकांत साधना से ही हो सका, अतः सभी ने एकमत होकर यह स्वीकार किया कि आत्मविश्लेषण और आत्मशोधन में ही परमसुख है। वह सुख अवाङ्मनसगोचर है। श्रद्धा, विश्वास और साधना का ही विषय है।[२] इस संपूर्ण प्रप्रंचात्मक जगत् में इस सुख को खोजकर नहीं पाया जा सकता। इसका स्थान तो मन ही है, इसलिये साधना द्वारा मन में ही प्राप्त किया जा सकता है।[३] इस रहस्य को तपस्या द्वारा ही जाना गया और अपने अंतःकरण की गुहा में ही उसकी अनुभूति हुई।[४] इसलिये सभी ने यह निश्चित सिद्धांत स्थिर किया कि आंतरिक सुख की ही जिज्ञासा करनी

---

१. किं कारणं, कुतस्म जाताः, जीवामकेन, क्वच संप्रतिष्ठाः, अधिष्ठताः केन सुखेतरेषु वर्त्तामहे ? [श्वेताश्वेतरोपनिषद् ।१।१]

**२. यतो वाचो निवर्त्तन्ते, अप्राप्य मनसा सह**

[तैत्तरीयोपनिषद् ब्रह्मा० ४ अनु०]

**१. मनसैवेद माप्तव्यं नेह नानास्ति किंचन।** [कठोपनिषद् १।११]

**२. यः पूर्वं तपसो जातमद्भ्यः पूर्वमजायत।**
**गुहां प्रविश्य तिष्ठन्त यो भूतेभिर्व्यपश्यत॥** [कठोपनिषद् १।६]

चाहिये ।[१] वह सुख महान् है, उसको पाकर फिर कुछ भी अज्ञेय, अश्रुत और अदृश्य नहीं रह जाता[२] वह सुख अमृत है । उसी को रसतम कहा गया, जिसमें डुबकी लगाकर परमानन्द प्राप्त होता है ।[३] उस आनन्द से ही संपूर्ण जगत् ओतप्रोत है, ऐसी अनुभूति होने लगना ही मुक्ति है । आंतरिक आनन्द को जगत् में आरोपित कर देने से जगत् की अनित्यता नहीं रह जाती । सारा जगत् आनन्दमय ही प्रतीत होता है, उसकी दुखात्मकता समाप्त हो जाती है । एकत्व और समत्व का साम्राज्य हो जाता है, तो फिर दुःख से होने वाले शोक और मोह दूर हो जाते हैं ।[४] सारा जगत् आनन्द से पूर्ण प्रियता, मोद और प्रमोद से युक्त ही प्रतीत होता है । सारा जगत् आनन्द से ही उत्पन्न हुआ सा ज्ञात होता है ।[५] जब इस पूर्ण आनन्द रस की अनुभूति होती है, तो जगत्, जीव सभी उसी से पूर्ण प्रतीत होते हैं । जीवन की अपूर्णता समाप्त हो जाती है । आनंदमयता और रसपूरिता ही रह जाती है ।[६]

इस प्रकार सभी दार्शनिकों ने स्वभावतः होने वाले प्रश्नों (जो पीछे कहे गये हैं) का हल अपने अंतःकरण में ही खोज लिया । जगत् के पदार्थों में स्वतः की आसक्ति को ही उन्होंने बंधन माना । उसी को माया, प्रधान, बंधन, वासना कहा । उसी को दुःखात्मक अनुभूति का कारण और प्रेरक अविद्या माना । भोक्ता जीव की भोग्य जगत् के प्रति आसक्ति का कारण स्व को ही माना । उस आसक्ति से मुक्त होने का कारण भी स्व को ही कहा, आंतरिक बहुल सुख और आनंद को ही सर्वेश्वर ब्रह्म कहा । उसी के नियंत्रण में संपूर्ण जगत् को स्वीकार किया ।[७] इस बहुल सुख भूमा

---

१. **सुखं त्वेव विजिज्ञासितव्यः ।** [छांदोग्योपनिषद् ७।२२।।]

२. तत्सुखं नाल्पेसुखमस्ति, यत्र नान्यत्पश्यति, नान्यच्छृणोति, नान्यद्विज नाति, स भूमातदमृतम्— [छांदोग्योपनिषद् ७।२३-२४]

३. **रसो वै सः, रस ह्येवायं लब्ध्वाऽनंदी भवति—**
[तैत्तरीयोपनिषद् ब्रह्मानंद वल्ली ७]

४. **यस्मिन् सर्वाणि भूतान्यात्मैवाभूद्विजानतः ।**
**तत्र को मोहः कः शोकएकत्वमनुपश्यत ।।** [ईशावास्योपनिषद् ७।]

५. आनन्दमयः, तेनैषपूर्णः, तस्य प्रियमेवशिरः मोदो दक्षिण पक्षः, प्रमोदो उत्तर पक्षः । आनंदाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायंते—
[तैत्तरीयोपनिषद् ब्रह्म० ५।भृगु० ६]

६. **ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते ।**
**पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ।।** [ईशावास्योपनिषद् १।]

७. एष सर्वेश्वर एष सर्वज्ञ एषोऽन्तर्याम्येष योनिः, सर्वस्य प्रभवाप्यया हि भूतानाम् ।
माण्डूक्योपनिषद् ६ ।

आनंदस्वरूप ब्रह्म सर्वेश्वर की प्राप्ति को ही मोक्ष, (कैवल्य) प्राप्ति, निर्वाण, आदि नाम दिया । परंतु सब का लक्ष्य एक, प्राप्ति एक, साध्य एक और ज्ञान एक ही रहा । सभी ने उस बहुल सुख को जान लेने के बाद, बंधनों की मुक्ति, जन्म मृत्यु के सुख-दुःख को प्राप्त कराने वाले क्लेशों की क्षीणता स्वीकार की । सारा विश्व का ऐश्वर्य और कामनायें इसी में प्राप्ति कीं ।[१]

सभी दर्शनों में शाब्दिक या आर्थिक कुछ भी भेद दृष्टिगत होता हो पर तात्पर्य विषय का निरूपण सभी का समान है । सभी एक ही स्थान पर आकर एक हो जाते हैं, वह स्थान मुक्ति ही है । बोद्धा मनीषी विचारकों में कुछ शास्त्र को प्रमाण मानकर तथ्य का निरूपण करते हैं, उनको हमने आस्तिक कहा, जिन्होंने केवल बुद्धिवाद का आश्रय लेकर तथ्य विवेचन किया, उन्हें हमने नास्तिक माना । परंतु वास्तविकता तो यह है कि जो मुमुक्षु साधक है, वही सच्चा आस्तिक है, चाहे वह शास्त्रानुयायी हो अथवा बुद्धिवादी । साधना द्वारा जिनके राग-द्वेष, लोभ, भय और क्रोधादि विकार सर्वथा निवृत्त हो गये, वही उस मुक्ति पद का लाभ कर पाते हैं ।[२] इस विशुद्ध आनन्दात्मक प्रेम तत्त्व का बोध हो जाना ही महात्मापन, पांडित्य और विद्वत्ता है । ऐसे महात्मा को हम वाह्य और आभ्यंतर से शुद्ध और निर्मल देखते हैं । यही बोधस्थिति है, इसी के लिये जिज्ञासुओं का सारा प्रयत्न होता है । इसी स्थिति को प्राप्त कर प्राणी कृत्कृत्य हो जाता है । इस विशुद्ध दृष्टि में जगत् के सारे प्रपंच प्रसार का विलय होकर सच्चिदानंद स्वरूप हो जाना ही तथ्य है । उसे जगत् असत्, जड़ और दुःख रूप नहीं प्रतीत होता । उसकी दृष्टि में दृष्टा, दृश्य और दर्शन इन तीनों का भेद समाप्त हो जाता है । सारा विश्व निश्चल, निर्बाध, निष्कल और चिदानंदघन सत्तामात्र रह जाता है । उसके द्वारा जो आदर्शकार्य होते हैं, वे कल्याणकारी होते हैं । यही श्रेय का मार्ग है । यह संसार के बंधनों और

---

१. **ज्ञात्वादेवं सर्वपाशापहानिः क्षीणैः क्लेशैर्जन्ममृत्यु प्रहाणिः ।**
**तस्याभिधानात्तृतीयं देह भेदे विश्वश्वर्यं केवल आप्तकामः ।।**
श्वेताश्वतरोपनिषद् १।११।।

२. **इह चेदवेदीदथ सत्यमस्ति न चेदिहावेदीन्महती विनष्टिः ।**
**भूतेषु भूतेषु विचिंत्य धीराः प्रेत्यात्माल्लोकादमृता भवन्ति ।**
केनोपनिषद् २।५।।

[जो इस मनुष्य शरीर में ही साधन द्वारा आनंदतत्त्व को जान लेता है, वही कुशल है । जो इस शरीर से उसको नहीं जान पाता वही नाश है । वास्तविक महात्मा वही है, जो जगत् और प्राणियों में इस सुख तत्व को खोजता है । ऐसे अन्वेष्टा पुरुष ही शरीर छोड़ने के बाद अमर हो जाते हैं]

दुःखों से छुड़ाने वाला है। संसार के बंधनों से जकड़ने वाला प्रेयमार्ग है, जो कि बड़ा आकर्षक है, उसमें वैषयिक आनंद की अनुभूति होती है, परंतु परिणाम दुःखात्मक ही होता है। श्रेयमार्ग का सुख और आनन्द शाश्वत और चिरंतन है। जो तत्त्ववेत्ता महात्मा हैं वे श्रेयमार्ग को ही आश्रय मानते हैं और जो प्रेयमार्ग को ही आश्रय मानते हैं, उन्हें सदा दुःख ही दुःख पल्ले पड़ता है। वे सुख बाहुल्य से वंचित रह जाते हैं।[1]

दर्शनशास्त्र की दो प्रवृत्तियाँ हैं, खंडनात्मक और समन्वयात्मक। खंडनात्मक प्रवृत्ति-सापेक्ष, सविकल्प और आग्रहयुक्त है। इसे हम बुद्धि, मति युक्ति तर्क आदि नामों से पुकारते हैं। बुद्धिवादी प्रवृत्ति के यात्रियों का भटकना स्वाभाविक ही है, क्योंकि बुद्धि (प्रकृति = माया) के आश्रय से ही मार्ग का अन्वेषण करना कठिन है। बुद्धि कल्पनाओं की प्रसूतिका है, कल्पनाओं का अंत नहीं। इसीलिये इनकी कल्पना में जगत् के संपूर्ण पदार्थ सत्, असत् से विलक्षण होने से मिथ्या है।

समन्वयात्मक प्रवृत्ति-निरपेक्ष, निर्विकल्प और प्रपंचशून्य है। इसे हम विशुद्ध ज्ञान, प्रज्ञा, विज्ञान, चित्, संवित् या स्वानुभूति कह सकते हैं। यह अनुभव और साक्षात्कार का विषय है, प्रपंच का नहीं। जगत् के संपूर्ण पदार्थ-मिथ्या होते हुए भी व्यावहारिक सत्य हैं। केवल विशुद्ध ज्ञान हो जाने पर ही उन पदार्थों का बोध हो सकता है, परन्तु समूल नाश नहीं। परमार्थ या तत्त्व, विशुद्ध ज्ञान स्वरूप है, जो कि स्वतः सिद्ध और स्वयं प्रकाश है। उसे केवल अनुभूति द्वारा ही जाना जा सकता है, वाणी या बुद्धि द्वारा नहीं। अधिकांश दर्शनशास्त्र बुद्धिवादी हैं, इसलिये तत्त्व के साक्षात्कार में भटक गया है। जिस दार्शनिक ने एक मात्र आत्मविश्लेषण किया है और साधना को ही लक्ष्य बनाया है, उसकी वाणी एक दम मौन है। मौन ही उच्चतम दर्शन है। यह मौन गूँगे या मूर्ख का नहीं अपितु महात्मा, तत्त्ववेत्ता का मौन है, इसके आगे विश्व की वाणी फीकी पड़ जाती है। महात्मा बुद्ध ने इसी मौन का आश्रय लेकर तत्त्व का साक्षात्कार किया था। महामुनि व्यास

---

१. **श्रेयश्च प्रेयश्च मनुष्यमेतस्तौ संपरीत्य विवनक्ति धीरः।**
**श्रेयो हि धीरोऽपि प्रेयसो वृणीते प्रेयो मंदो योगक्षेमाद् वृणीते।**

कठोपनिषद् २।२॥

[श्रेय और प्रेय दोनों ही सामने आते हैं, बुद्धिमान मनुष्य उन दोनों के रूप पर भलीभाँति विचार कर समझता है, और श्रेय (कल्याण साधन) को ही प्रेम (भोग साधनों) से अधिक श्रेष्ठ मानकर उसी का आश्रय लेता है। मंद बुद्धि लौकिक साधनों की प्राप्ति और उसकी रक्षा की दृष्टि से प्रेय को ही चाहता है]

ने मौन भाषा में ही समाधि द्वारा तत्त्व का समाधान किया।[१] महामुनींद्र भगवान् निंबार्काचार्य अंतः साधक मितवाक् और महान् तत्त्ववेत्ता थे। समन्वयात्मक प्रवृत्ति में वेदांत दर्शन अधिक सफल हुआ है। वेदांताचार्यों में सर्वाधिक समन्वयवादी श्री निंबार्काचार्य थे, क्योंकि वे परम भक्त थे। समन्वय का ही दूसरा नाम भक्तियोग है। व्यास ने समाधि भाषा श्रीमद्भागवत[२] में जिस समन्वयात्मक भागवत धर्म का उपदेश किया, उसे श्री निंबार्काचार्य ने जीवन में चरितार्थ किया और भक्तों को अपनी स्वानुभूति से आत्मसात करा दिया। आज विभिन्न वैष्णव मतों और पंथों में उन्हीं की भक्तिमय गाढ़ानुभूति अनुस्यूत है।

दार्शनिकों ने जीवात्मा को बंधन में डालने वाली माया को एक बहुत बड़ी व्याधि का कारण माना है, उससे छूटने की औषधि वे आत्मविश्लेषण को मानते हैं तथा आत्मा की आनन्दावस्था को उन्होंने आरोग्यता कहा है। प्रायः सभी दार्शनिक आयुर्वेद के चार सिद्धांत मानते हैं: रोग, रोग का हेतु, आरोग्यता और औषधि। इसी के आधार पर ही जगत् की समस्या का हल निकालने की चेष्टा करते हैं। योगदर्शन में ऐसा ही विचार किया गया है।[३] महात्मा बुद्ध ने भी इसी प्रकार चार आर्यसत्यों[४] का उद्घाटन किया था—(१) सांसारिक दुःख का अस्तित्व, (२) उसका कारण, (३) उसके निरोध (निवारण) की आवश्यकता, (४) उसको समूलनष्ट करने का वैराग्य रूप साधन। इस प्रकार वे इन्हें दुःख, समुदाय, निरोध और मार्ग कहते हैं। बुद्ध ने तृष्णा या वासना का क्षय करके मन को निष्काम करने का ही प्रकारांतर से उपदेश किया था। दृश्य साध्य मन की निर्विषय स्थिति ही

---

१. **मुनीनामप्यहं व्यासः**—गीता ११ अध्याय।

२. **वेदः श्री कृष्ण वाक्यानि ब्रह्म सूत्राणि चैव हि।**
**समाधि भाषा व्यासस्य प्रमाणं तच्चतुष्टयं॥**

[उपनिषद्—गीता—ब्रह्मसूत्र और व्यास की समाधि भाषा भागवत ये चारों तत्त्व विवेचन में प्रमाण हैं] ७९ शुद्धाद्वैत मार्तंड पृ० ४९०॥

३. **यथा चिकित्साशास्त्रं चतुर्व्यूहं, रोगो रोगहेतुरारोग्यं भैषज्यमिति।**
**एवमिदमपिशास्त्रं चतुर्व्यूहमेव तद्यथा संसारः संसारहेतुःमोक्षो मोक्षोपायः।** [पातंजल योग सूत्र व्यासभाष्य २।५]

४. बुद्ध के पूर्व से ही जो विचार प्रणाली थी, उसी को पुनः प्रकाशित करने के कारण ही बुद्ध उसे आर्य सत्य कहते हैं—

**चत्तारि अरिय सच्चानि सम्मप्पंजाय पस्सति**—धम्मपद १४।१२॥

[चार आर्य सत्यों को जानकर पूर्ण ज्ञान हो जाता है]

उन्हें स्वीकार थी । उपनिषदों में मन की निष्काम अवस्था को, आत्मनिष्ठा, ब्रह्मसंस्था, ब्रह्मभूतता ब्रह्मनिर्वाण आदि कहा है, अर्थात् ब्रह्म में आत्मा का लय होना, अंतिम आधारदर्शक नाम दिये हैं। बुद्ध जी, निर्वाण का अर्थ विराम पाना, वासना का नाश होना इत्यादि क्रिया दर्शक करते हैं। बुद्ध कहते हैं, कि औपनिषद् ब्रह्म और आत्मा जब एक हैं तब, कौन, किसमें विराम पाता है ? यह समस्या है[1], इस प्रकार बुद्ध ने औपनिषद् अद्वैतवाद के आधार पर आत्मा और ब्रह्म का तत्त्व अस्वीकार किया। उन्होंने प्रज्ञातत्व और उपायतत्व को निर्वाण का आधार माना । श्री निंबार्काचार्य जी ने मुक्ति के लिये प्रज्ञातत्व और उपायतत्त्व को बौद्धों के समान भिन्न न मानकर एक माना है, और वे इन दोनों को स्वरूपशक्ति (ज्ञानशक्ति), गुणशक्ति (क्रियाशक्ति) कहते हैं तथा दोनो के संयोग को ही भक्तियोग का सुलभ (सहज) मार्ग कहते हैं । इस प्रकार निंबार्काचार्य जी ने उपनिषद् की ब्रह्मभूतता तथा बुद्ध के निर्वाणतत्त्व का समन्वय कर ब्रह्मात्मभाव नामक मुक्ति कहा है । इन्होंने उपनिषद् के द्वैताद्वैत वाद को सामने उपस्थित कर बौद्धों का संशय निवृत्त कर दिया । इनके मत में जीव का, उपासना रूपी औषधि से स्वस्थ होकर ब्रह्मात्मभाव को प्राप्त करना ही आरोग्यता है । इस तथ्य को ये अपने दशश्लोकी में उपास्यरूप, उपासकरूप, कृपाफल, भक्ति रस और माया के विवेचन द्वारा स्पष्ट करते हैं। इन्होंने मन को निर्विषय बनाने का सरल उपाय, कृष्ण के चरणों का आश्रय कहा है । भगवान् निंबार्काचार्य के मत से जीव, मन और अहंकार का ब्रह्म के समन्वय हो जाना ही मुक्ति है । इनकी दृष्टि में भोक्ताजीव, भोग्य जगत् और प्रेरिता माया को यदि परमात्मा में विराम कर दें (अर्पित कर दें) तो शांति प्राप्त हो जावेगी । इस प्रकार बुद्ध के द्वारा जो शंका की गई कि "यदि जीव ब्रह्मभूत हो जावेगा तो उसका विश्रामस्थल कौन होगा ?" वह समाप्त हो जाती है । भोक्ता, भोग्य और प्रेरिता अर्थात् जीव, मन और अहंकार को ब्रह्म का अंग मानकर उसी में समन्वय कर देने से आनन्दतत्त्व का प्रकाश हो जावेगा । इसी रहस्य को भागवत में चतुर्व्यूह उपासना के रूप में प्रकट किया गया है । वासुदेव, संकर्षण, प्रद्युम्न और अनिरुद्ध ये चार व्यूह हैं, इनका अंग वासुदेवतत्त्व है, उसका आश्रय ही चतुर्व्यूह का समन्वय है । यह समन्वय ही भूमा-सुख है। इसी को श्रीनिंबार्काचार्य जी ने अपनी गुरु-परम्परा से प्राप्त किया था ।

---

१. रतनसुत्त १४ और वग्गीस सुत्त २२-२३ ।

**प्रथम अध्याय समाप्त**

## द्वितीय अध्याय

# सिद्धांत अविरोध

आस्तिक और नास्तिक दोनों ही अपने अंत:करण की गुहा में ही प्रवेश कर तत्त्व का अन्वेषण करते हैं, वहीं उनको तथ्य दृष्टिगत होता है। आस्तिक को उस गुहा में परमात्मा का प्रकाश मिलता है, उसी के आश्रय से वह मार्ग प्रदर्शित करता है। पर नास्तिक उस प्रकाश को परमात्मा का प्रकाश नहीं कहता, स्वानुभूति और अंतर्चेतना कहता है। बात एक ही है पर एक सावलंब है दूसरा निरवलंब। एक परमात्मा के साहाय्य से चित्त-वृत्तियों को भटकने नहीं देता। उसे दिव्य ब्रह्म के प्रकाश में सदा मार्ग दीखता रहता है। दूसरे को पग-पग पर गिरने का भय हो सकता है, क्योंकि वह स्व पर विश्वास करता है। नास्तिक और आस्तिक दोनों ही स्व की महानता को स्वीकार करते हैं परन्तु नास्तिक का स्व जीव है और आस्तिक का स्व ब्रह्म। नास्तिक का स्वकीय जगत् होता है तो आस्तिक का स्वकीय भी ब्रह्म ही है। इस प्रकार हम देखते हैं कि नास्तिक के स्व में अहंतत्त्व का लेश स्पृष्ट रहता ही है क्योंकि वह स्व से स्वकीय का संश्लेषण नहीं करता। आस्तिक का स्व स्वकीय से संलग्न हो जाता है। इसलिए उसका अहं पूर्ण रूप से समाप्त हो जाता है। इस प्रकार आस्तिक लड़खड़ाता हुआ भी स्वकीय के प्रकाश में बढ़ता रहता है और नास्तिक की गति शिथिल रहती है। नास्तिक केवल कर्मठता पर ही विश्वास रखता है, पर आस्तिक कर्मठता के साथ श्रद्धा को भी मानता है। पर दोनों, अंतिम साध्य और साधन में एक हैं। विचार स्वातन्त्र्यही उनके मत-विभिन्नता का कारण है, ऐसा सभी दार्शनिक सिद्धांतों का विश्लेषण करने से स्पष्ट जाना जा सकता है।

## सांख्य दर्शन

सांख्य दर्शन, दार्शनिक मतों में अति प्राचीन माना जाता है, इसके प्रवर्त्तक आचार्य कपिल हैं। ये अपने बाईस सूत्रीय ग्रंथ में सारी सृष्टि को पुरुष के लिये बतलाते हैं। प्रधान प्रकृति और पुरुष के संयोग से ही सृष्टि का विकास मानते हैं। पुरुष और प्रकृति के विवेक ज्ञान हो जाने मात्र से मोक्ष हो जाता है पर विवेक दशा में भी प्रकृति और पुरुष की पृथक् सत्ता विद्यमान

रहती है। प्रकृति के वशीभूत जीवात्मा है तत्त्व के अभ्यास से विवेक की सिद्धि हो जाने पर लिंग शरीर नष्ट हो जाता है, उससे दु:खों की आत्यंतिक निवृत्ति हो जाती है। श्रवण और मनन के द्वारा उत्तम अधिकारी को ही तत्त्व-ज्ञान होता है। केवल विवेक ज्ञानमात्र से ही मुक्ति नहीं होती। अपितु तत्त्व ज्ञान के द्वारा अविद्या की समाप्ति हो जाने पर जीवन में ही जीवनमुक्ति हो जाती है। यह आत्मा से अतिरिक्त परमात्मा की सत्ता नहीं मानते। इन्होंने जगत् का कारण प्रधान प्रकृति को ही माना है। यह बड़ा प्रबल और सर्वमान्य मत रहा है, प्राय: सभी दार्शनिकों पर इनके सिद्धांत का कुछ न कुछ प्रभाव पड़ा है। यह द्वैत मत का प्रतिपादक दर्शन है। प्रकृति को जड़ और एक मानते हैं तथा पुरुष को चैतन्य और अनेक। इनकी दृष्टि में, कारण में कार्य अव्यक्त रूप से विद्यमान रहता है। कारण—सामग्री के द्वारा, वह कार्य अपनी अव्यक्तावस्था को छोड़कर व्यक्तावस्था को प्राप्त करता है। सत्व, रज और तम इन तीनों गुणों की साम्यावस्था ही प्रकृति है। इन गुणों में विषमता होने पर ही सृष्टि होती है, किन्तु यह सृष्टि कोई नवीन नहीं अपितु कारण में निहित कार्य का उद्‌भव मात्र है, जिसे अभिव्यक्ति भी कहते हैं। प्रकृति में जगत् के समस्त पदार्थों की सत्ता अव्यक्त रूप से रहती है, इसलिए प्रकृति को अव्यक्त कहते हैं। इसी को सत्कार्यवाद कहा जाता है।

सांख्य के अनुसार आध्यात्मिक, आधिभौतिक और आधिदैविक ये तीन प्रकार के दु:ख हैं, इन सबका कारण अविद्या है। पुरुष अपने मूलरूप में शुद्ध चैतन्य है तथा निर्गुण एवं जगत् का साक्षी मात्र है, परन्तु प्रकृति के संयोग में अविद्यावश वह अपने स्वरूप को भूल जाता है, और अपने को कर्म का कर्त्ता मानकर कर्म का भोक्ता बनता है, अर्थात् अपने का कर्त्ता समझने के कारण उसे जन्म-जन्मांतर तक दु:खरूप कर्मफल भोगने पड़ते हैं। इस जन्म कर्म परम्परा की निरंतरता ही पुरुष का बन्धन है। इस बन्धन की मुक्ति ही कैवल्य (मोक्ष) है। ये बन्धन और दु:ख अविद्या (अज्ञान) मूलक हैं। इसलिए विद्या (ज्ञान) द्वारा ही कैवल्य संभव है। सांख्य के अनुसार पुरुष (जीव) का, स्वरूप को पहचानना ही ज्ञान है। पुरुष का स्वरूप विशुद्ध, राग क्रियाहीन चैतन्य है, कर्त्ता और भोक्ता नहीं। जब पुरुष को अपना शुद्ध साक्षी स्वरूप परिचित हो जाता है, तो उसका अहंकार नष्ट हो जाता है और तब वह अपने को कर्त्ता नहीं मानता। कर्तृत्व भावना के नष्ट हो जाने से भोक्तृत्व भी नष्ट हो जाता है। इसलिए वह जन्मों के कर्मफल का भागी नहीं बनता। वह चक्र से मुक्त हो जाता है। जन्म चक्र ही पीछे कहे गये त्रिविध दु:खों का कारण है। जन्म चक्र की मुक्ति ही दु:खों की मुक्ति है। यही

सांख्यशास्त्र का कैवल्य (मोक्ष) है। स्वामी शंकराचार्य जी ने इस दर्शन को शुद्ध आत्मतत्त्व का विज्ञान कहा है।[1]

### योग दर्शन

योग दर्शन सांख्य दर्शन का पूरक है, यह उसकी व्यावहारिक पूर्त्ति करता है। कैवल्य सिद्धि की विस्तृत व्यावहारिक साधन प्रणाली सांख्य दर्शन में नहीं है, उसकी पूर्ति योग दर्शन ने की है।[2] सूक्ष्म दृष्टि से विवेचन करने पर लक्षित होता है कि योग दर्शन सांख्य के तत्वों का ही निरूपण करता है। सांख्य-तत्व के निदिध्यासन और वैराग्य के अभ्यास द्वारा आत्म साक्षात्कार करता है तो योग दर्शन, तप, स्वाध्याय और ईश्वर प्रणिधान रूप क्रियायोग के द्वारा आत्मा से संयोग कराता है। सांख्य, दर्शन, मोक्षधर्म का तत्व कांड है, तथा योग दर्शन, साधन कांड। योग की विशेता ईश्वर प्रणिधान की है। जो कि भक्ति योग से अत्यंत सन्निकट की वस्तु है। योग दर्शन भेदाभेद वादी है। सविकल्प समाधि की अवस्था में साध्य और साधक का सूक्ष्म भेद रहता है तथा निर्विकल्प समाधि में अभेद। यह उपयोगी और व्यावहारिक दर्शन है। यह आंतरिक और वाह्य शौच के लिये उत्तम साधनों को विधिरूप से उपस्थित करता है। शौच, संतोप, तप, स्वाध्याय और ईश्वर प्रणिधान इसके मुख्य साधन हैं। मैत्री, करुणा, मुदिता और उपेक्षा इन चार अंत: की भावनाओं से अंत: शौच होता है। अतृप्ति का अभाव ही संतोष, शीतोष्ण सुख दु:खादि का समत्व ही तप है। जप एवं योग शास्त्र का निरंतर मनन ही स्वाध्याय तथा भगवान् में निखिल कर्मों का समर्पण ही ईश्वर प्रणिधान है।

योग दर्शन के अनुसार चित्त, प्रकृति का ही एक परिणाम है, जो कि सदा चंचल रहता है। लौकिक जीवन और अनुभव के प्रसंग में चित्त सदा नव नव आकार ग्रहण करता रहता है। चित्त की विपयाकार रूप अभिव्यक्ति को ही वृत्ति कहते हैं। वृत्तियों का निरंतर क्रम ही हमारा जीवन है। कैवल्य अथवा योग समाधि की अवस्था में इन वृत्तियों का समाधान हो जाता है। समाधान ही समाधि है। चित्र वृत्तियों का पूर्ण

---

१. **शुद्धात्म तत्त्व विज्ञानं सांख्यमित्यभिधीयते**—शांकरभाष्य

२. **यत्सांख्यै प्राप्यते स्थानं तद्योगैरपि गम्यते।**
**एकं सांख्यं च योगं च यः पश्यति स पश्यति॥**

[सांख्य में जिस स्थान को प्राप्य कहा है, वहीं योगदर्शन भी पहुँचता है, सांख्य और योग एक ही हैं, ऐसा समझने वहला ही सच्चा ज्ञाता है।]

निरोध होने पर पुरुष (जीव) समस्त विषयों से अलग होकर, संसर्गों से मुक्त हो जाता है, वही उसकी चैतन्यावस्था कैवल्य स्थिति है। यह योग दर्शन के अनुसार यम नियमादि आठ अंगों के साधन के बाद प्राप्त होती है। इन अंगों के अभ्यास से वृत्तियाँ विलीन हो जाती हैं, एवं चित्त एकाग्र हो जाता है, यही समाधि की दशा है। इस दशा में दृष्टा अपनी स्वरूपस्थिति प्राप्त कर लेता है और कैवल्यस्थिति का अनुभव करता है।

सांख्य के पचीस तत्वों के अतिरिक्त, योग, ईश्वर नाम का छब्बीसवाँ तत्त्व भी स्वीकार करता है, यही योग की विशेषता है। इसलिये योग को सेश्वर सांख्य कहा गया है। योग का मत है कि जो पुरुष विशेष; क्लेश, कर्म, विपाक (कर्मफल) और आशय (वासना संस्कार) तथा अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश आदि दुःखों से मुक्त है। इस प्रकार ऐश्वर्य और ज्ञान की पराकाष्ठा ही ईश्वर है। इसके प्रणिधान से, चित्त की एकाग्रता से अथवा समग्र कर्म फलों के समर्पण से समाधि की सिद्धि होती हैं।

इस मत के प्रवर्त्तक महर्षि पतंजलि हैं। सूत्र रूप से इन्होंने अपने मत का व्याख्यान किया है। उसमें समाधिपाद, साधनपाद विभूतिपाद और कैवल्यपाद आदि चार पादों का विभाजन किया है। इस ग्रंथ में थोड़े शब्दों में आत्म कल्याण के उपयोगी और प्रत्यक्ष उपाय बतलाये गये हैं। इसकी वैज्ञानिक साधनाप्रणाली को प्रायः सभी दार्शनिकों ने स्वीकार किया है। गीता में सांख्य और योग दोनों के संयोग को ही भक्तियोग कहा गया है। श्रीमद्‌भागवत में आचार्य कपिल के द्वारा उपदिष्ट जो सांख्य का तत्त्व विवचेन किया गया है, वह सांख्य और योग का संयुक्त रूप ही है।

योग का साधन भारत वर्ष में सदा से प्रधान रूप से होता रहा है, सभी ने इसकी महानता स्वीकार की है।

## न्याय दर्शन

न्याय दर्शन मुख्य रूप से प्रमाणशास्त्र है। ज्ञान का साधन और उसकी यथार्थता का निर्णय ही इसका मुख्य विषय है। जीव, जगत् और ईश्वर ये तीन सत्य और सनातन सत्तायें स्वीकार की हैं। इसके अनुसार जगत्, ईश्वर की सृष्टि है और उसकी वास्तविक सत्ता है। इस मत के प्रवर्त्तक महर्षि गौतम (आचार्य अक्षपाद) हैं। इन्होंने अपने न्यायसूत्रों में, सोलह पदार्थों के यथार्थ ज्ञान द्वारा, निःश्रेयस् का अधिगम ही जीवन का परम लक्ष्य माना है।" ऋते ज्ञानान्नमुक्तिः" इनका सर्वथा मान्य सिद्धांत

है। वास्तविक ज्ञान कैसे प्राप्त होता है, इसकी यथार्थ मीमांसा न्यायशास्त्र में कही गई है। दार्शनिक दृष्टि से इस मत को 'बहुत्व संवलित यथार्थवाद'' कह सकते हैं। जिसका तात्पर्य होता है कि इस विश्व के मूल में परमाणु, आत्मा और ईश्वर ऐसे नित्य पदार्थ विद्यमान हैं, इन सबके संयोग से ही सृष्टि होती है। जगत् का समवायि कारण परमाणु है, ईश्वर निमित्त कारण है, जो कि अनुमानगम्य है। ईश्वर की ईक्षण (इच्छा) शक्ति से ही दो परमाणुओं का संयोग होता है। वही क्रमश: द्वयणुक, त्रिसरेणु होकर आकाश आदि पंचतत्वों के रूप में विकसित होते हैं।[1] यह समाधि द्वारा ही मोक्ष मानते हैं, अष्टांग यम नियमादि को ही योग कहते हैं, तथा योग साधन के लिए एकांत सेवन की व्यवस्था देते हैं अध्यात्मज्ञान के लिए शास्त्राभ्यास एवं शास्त्रज्ञ महापुरुषों की सत्संगति को विशेष महत्व दिया है। ये जीव और ईश्वर में भेदवाद मानते हैं।

इनके मत से मुक्ति अवस्था में सुख और दुःख दोनों वृत्तियाँ नष्ट हो जाती हैं। मन की साम्यावस्था हो जाती है तभी मुक्ति होती है। मिथ्याज्ञान के द्वारा ही दोष, प्रवृत्ति, जन्म तथा दुःख की प्राप्ति होती है। मिथ्याज्ञान का नाश तत्वज्ञान से ही हो सकता है, उसी से निःश्रेयस्-सिद्धि होती है। इनकी दृष्टि में ज्ञान और क्रिया का योग ही मोक्ष का साधन है।

### वैशेषिक दर्शन

यह न्याय दर्शन के समान तंत्र दर्शन है। न्याय और वैशेषिक दर्शन में योग और सांख्य की तरह बड़ी समता है। इस दर्शन में सत्य की मीमांसा भौतिक विज्ञान की दृष्टि से की गई है। न्याय दर्शन अंतर्जगत् की ज्ञान की मीमांसा करता है तथा वैशेषिक दर्शन वाह्य जगत् की विस्तृत समीक्षा करता है। इसके प्रवर्त्तक आचार्य कणाद हैं। इनके अनुसार द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य विशेष, समवाय, अभाव आदि सात ही पदार्थों में सारी सृष्टि निहित हैं। आत्मा से इतर जागतिक पदार्थों के सम्यक् ज्ञान हो जाने पर आत्मा का यथार्थ ज्ञान हो जाता है। आत्मा और आत्मेतर द्रव्यों के साधर्म्य और वैधर्म्य ज्ञान हो जाने पर तत्व ज्ञान हो जाता है निष्काम कर्मों का सम्पादन नितांत आवश्यक माना है, क्योंकि निष्काम कर्मों का अनुष्ठान

---

१. पाश्चात्य वैज्ञानिकों की धारणा है कि परमाणुतत्त्व का सर्व प्रथम अन्वेष्टा डेमोक्रेट्स (ई०पू० ४६०)है। परन्तु वेद ही इसके सर्व प्रथम प्रकाशक हैं। वैशेषिक और न्यायदर्शन इस तत्व के प्रवर्त्तक हैं।

तत्वज्ञान का प्रकाश करके मोक्ष की उपलब्धि कराता है। इनके मत में इच्छा और द्वेष, धर्म और अधर्म के कारण है। धर्म और अधर्म का आचरण ही जन्म-मरण के प्रवाह का कारण है। शास्त्र प्रतिपाद्य यम-नियमादि अष्टांग तथा श्रवण, मनन और निदिध्यासन ही मोक्ष के प्रतिपादक हैं। जन्ममरण से छूटना ही मुक्ति है। यही इनके पारमार्थिक साधनतत्व का सारांश हैं। ये भी परमाणु से ही जगत् की सृष्टि मानते हैं। ईश्वर नियमित ही परमाणुओं की सहकारिता स्वीकार करते हैं। परमाणु कारण वाद के आधार पर इन्हें अर्द्ध बौद्ध तक कहा गया है।

## मीमांसा दर्शन

मीमांसा का शब्दार्थ "विवेचन" होता है, किन्तु इसका अभिप्राय वेदों के तात्पर्य विवेचन से है। इसलिये वैदिक परम्परा के प्रमुख कर्म तथा ज्ञान का प्रतिपादन करने वाले ब्राह्मण और उपनिषद् ग्रंथों का विवेचन करने से इसके दो रूप हैं, पूर्वमीमांसा तथा उत्तरमीमांसा। पूर्वमीमांसा को ही प्रायः मीमांसा शब्द से समझा जाता है। यह दर्शन पूर्णतः वेद मूलक है। वेद नित्य तथा सर्वोपरि सत्य है अतः वही सर्वथा प्रमाण है। वेद को अपौरुषेय, स्वतः सत्तावान कहा गया है। वेद शब्द स्वरूप है इसलिए शब्द प्रमाण का मीमांसा में विशेष महत्व है। इसकी शब्द विषयक कल्पना और दर्शनों से भिन्न है। इनके मत से शब्द, बोलने या सुनने का विषय नहीं अपितु नित्य और ध्वनिहीन सत्ता है। ध्वनि के रूप में तो इसकी वाह्य अभिव्यक्ति होती है। इस अभिव्यक्ति को ही स्फोट कहते हैं। वास्तविक वेद नित्य और अव्यक्त ध्वनिहीन ही है। इस वेद का सृष्टि के साथ ही स्वतः आविर्भाव और तिरोभाव होता है।

मीमांसक प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, शब्द, अर्थापत्ति और अनुपलब्धि छः प्रमाण मानते हैं। आचार्य जैमिनि ही इसके विवेचक आचार्य माने जाते हैं, इनका कथन है कि कर्म से एक प्रकार की शक्ति उत्पन्न होती है, जो स्वतः कर्म फल का नियमन करती है। इसे अपूर्व कहते हैं। जीवों के व्यक्तिगत अपूर्व से जन्म जन्मातर का नियमन होता है। समस्त जीवों की अपूर्व की समष्टि से कल्प, कल्प में सृष्टि का आविर्भाव होता है। सृष्टि या प्रलय अनंत विश्व के निरन्तर प्रवर्त्तमान क्रम हैं, जो कि स्वतः संचालित हैं। जगत् की सत्ता उन्हें पूर्ण रूप से स्वीकार्य है। शुभाशुभ कर्म से ये पाप-पुण्य, स्वर्ग-नर्क की कल्पना करते हैं। अर्थकर्म और गुणकर्म ये दो कर्म के भेद मानते हैं। अदृष्ट के उत्पादक, अंतःकरण की शुद्धि करने वाले कर्मों को अर्थगत कर्म कहते हैं, जैसे कि अग्निहोत्र आदि। ये अर्थ गत

तीन प्रकार के हैं—(१) नित्य (अग्निहोत्र संध्या वंदनादि), (२) नैमित्तिक (पुत्रेष्टि यज्ञ आदि), (३) काम्य (ऐहिक फलक = इसी लोक में फल देने वाले, आमुष्मिक फलक = परकाल में फल देने वाले, ऐहिकामुष्मिक फलक = इस काल और परकाल में फल देने वाले)।

संस्कारकर्मों को गुणकर्म कहते हैं, जो कि उत्पत्ति, आप्ति, विकृति और संस्कृति आदि चार प्रकार के होते हैं। इनकी दृष्टि में शुभ कर्मों का आचारण ही मोक्ष का साधन है। आत्मशुद्धि के लिए आचार धर्म का पालन अत्यावश्यक है। सदाचरण ही धर्म है। इस धर्माचरण का उपेदश ही मीमांसा दर्शन का मुख्य प्रयोजन है।[1] सदाचरण से, अन्तर्वत्ती दुःख की अत्यंत निर्वृत्ति हो जाने पर मन से सुख का भी लगाव छूट जाता है, वही मुक्ति है। ऐसा प्रसिद्ध मीमांसक कुमारिलभट्ट का मत है।[2]

### वेदांत दर्शन

सामान्यतः अधिकांश लोग वेदांत का तात्पर्य धर्मशास्त्रीय या धार्मिक वस्तु समझते हैं, कुछ वेदांत को पांडित्यपूर्ण सिद्धांत निरूपण कहते हैं और कुछ लोग इसे रहस्यपूर्ण अनुभूति तथा अनुभूति स्वरूप दिव्यदृष्टि समझते हैं। वस्तुतः वेदांत ज्ञान की पराकाष्ठा और वेदों का सार तत्त्व है। इसकी धारा ऋग्वेद से निकल कर आज तक निरंतर प्रवाहित हो रही है। संवनन आंगरिस ऋषि के मत से यह ऐसा तत्व है, जिसे एक साथ मिलकर विचारा जावे और समझा जावे।[3] यह मनीषियों के अन्वेषण का अजस्र प्रवाह है। सम्पूर्ण मानवीय ज्ञान और अनुभव वेदांत के अंतर्भूत हैं। सभी दर्शनों का यही आदिम श्रोत है। सभी विद्याओं का और सभी कर्मो का प्रदर्शक, सभी धर्मों का आश्रय और सभी को दीपक के समान सदा मार्ग प्रदर्शन करने वाला यह वेदांत का सिद्धांत है।[4] धर्म, सम्प्रदाय, योग आदि मत-मतांतर, समस्त, विज्ञान एवं कलायें इसके अंतस्थ तत्व के उपकरण, साधना या सीढ़ियाँ हैं।

---

१. धर्माख्यं विषयं वक्तुं मीमासायाः प्रयोजनम्—श्लोक वार्त्तिक

२. दुःखात्यंतं समुच्छेदे सति प्रागात्मवर्त्तिनः।
सुखस्य मनसा मुक्तिर्मुक्तिरुक्ता कुमारिलैः

३. संगच्छध्वं संवदध्वं संवोमनांसि जानताम्—ऋग्वेद् १०।१९१।२।

४. प्रदीपः सर्व विद्यानां उपायः सर्वकर्मणां,
आश्रयः सर्वधर्माणां शश्वदान्वीक्षिकीमता।
(कौटिल्य अर्थशास्त्र १।२)

वेदांत, ब्रह्म-विद्या का रहस्य विज्ञापन करता है, जो कि मोक्ष मार्ग की उपासना है। अर्थकर्म और गुणकर्म तो परंपरया आत्मतत्त्व की प्राप्ति के सहकारी साधनमात्र हैं। कर्त्तव्य कर्मों के आचरण से तो अंतःकरण की शुद्धिमात्र होती है, तभी सांसारिक पदार्थों में अनासक्ति भाव रूप वैराग्य मुमुक्षुत्व प्रकट होता है। वासना का आत्यंतिक क्षय ही मोक्ष है। ब्रह्म-विद्या की उपासना द्वारा ही वासना का क्षय सम्भव है। ब्रह्मतत्त्व वेदांतदर्शन का विशेषतत्त्व है, जो कि स्वतः अनिर्वचनीय होते हुए भी नियामक हैं। जिसे वाणी कह नहीं सकती, परंतु जिसकी शक्ति से वाणी बोलती है, वही ज्ञेय ब्रह्म है। प्रतीक रूप से उपास्य तो ब्रह्म का प्रतीकमात्र ही है।[१]

ब्रह्म ही सम्पूर्ण सृष्टि का उपादान तथा निमित्त कारण है। सर्व प्रथम उस ब्रह्म ने आकाश तत्व को प्रकट किया है। उसी से क्रमशः वायु, तेज जल और पृथिवी का विकास हुआ है। जब ब्रह्म की अभिलाषा होती है तभी वह जगत् की सृष्टि का फैलाव करते हैं और जब वह चाहते हैं, तभी उस विस्तृत सृष्टि का क्रमशः अपने में लय कर लेते हैं जैसे कि मकड़ा अपने शरीर से जाला तानता है और पुनः अपने शरीर में ही समेट लेता है। जैसे पृथिवी से वनस्पति आदि उत्पन्न होती हैं तथा पुरुष के केश लोम आदि उत्पन्न होते हैं वैसे ही सारी सृष्टि परमात्मा से ही उत्पन्न होती है।[२] वह ब्रह्म ही एकमात्र था उसी ने इच्छा करके इस जगत् का विस्तार स्वतः अपने से ही किया।[३] यह परमात्मा अणु से भी अणु है और महान् से महान् है। यह जीवात्मा की अंतःकरण की गुहा में छिपा हुआ है। उसकी कृपा होने पर ही उसको जाना जा सकता है। उसको जानकर जीवात्मा शोकरहित हो जाता है।[४] सम्पूर्ण स्थावर जंगमात्मक जगत् को वश में रखने वाला प्रकाशमय

---

१. यद्वाचाऽनभ्युदितं येन वागभ्युद्यते,
तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते। (केनोपनिषद् १।५)

२. यथोर्णनाभिः सृजते गृह्णते च यथा पृथिव्यामोषधयः संभवंति।
यथा सतः पुरुषात् केशलोमानि तथाक्षरात्संभवंतीहि विश्वम्।
(कठो० १।१।७)

३. आत्मावा इदमेक एवाग्रासीत्,
नान्यत् किंचन मिषत् सईक्षत लोकान्नु सृजाइति ऐतरेयो० १।१।१

४. अणोरणीयान्महतो महीयानात्मागुहायां निहितोऽस्यजंतो।
तमक्रतुं पश्यति वीतशोको धातु प्रसादान्महिमानमीशम्।
श्वेताश्वेतरो० ३।२०

परमेश्वर इस मानव शरीर में अंतर्यामी होकर स्थित है, वही बाह्य जगत् में भी लीला करता है। वही सब का प्रभु सबसे बड़ा और शासक है, उसकी शरण ग्रहण करनी चाहिये।[1]

एकमात्र ब्रह्म की सत्ता स्वीकार करने वाला पूर्ण आस्तिक दर्शन हम वेदांत को ही कह सकते हैं। मोक्ष की प्राप्ति के विभिन्न उपाय विभिन्न दार्शनिक मतों में दिखलाये गये हैं। साधना की आवश्यकता सभी ने स्वीकार की है। योगदर्शन द्वारा प्रतिपाद्य साधना प्रणाली को सभी ने सम्यग् रूप से माना है। राग-द्वेष से छूटने के लिए सभी ने, निरंतर सदाचरण के अभ्यास और मनन की आवश्यकता स्वीकार की है। वेदांतदर्शन में ब्रह्म-तत्त्व का जो अनूठा प्रकाश है, वह साधक को क्षण-क्षण स्खलित होने से बचाता है। जीवात्मा की प्रवृत्ति स्वभावत: चंचल और मुक्त है, उसे संयमित और दृढ़ रखने के लिये ब्रह्म तत्त्व बहुत बड़ा आश्रय है। ब्रह्म की नियामकता और निरंतर साहचर्य स्वीकार करने पर जीवात्मा को साधनामार्ग में बहुत बड़ा भरोसा और सहारा रहता है। जैसे दूध में मक्खन की व्याप्ति रहती है, वैसे ही सम्पूर्ण वाह्याभ्यंतर जगत् में परमात्मा की व्यापकता मानने पर साधक को कहीं भी द्वैविध्य की प्रतीति नहीं होती, इसलिये वह सभी में एक ही तत्व का दर्शन करता है। एकत्व की प्रतीति होने पर किसी से भयभीत होने का तथा किसी को भयभीत करने का और सुख-दु:ख पाने का प्रश्न ही नहीं उठता। साधक निरंतर तप और निष्ठा से परब्रह्म की व्यापकता की अनुभूति करता हुआ समदर्शी हो जाता है। यही वेदांत का दर्शनतत्त्व है।[2] यही उपनिषद् का रहस्य है।[3] समत्व और एकत्व की भावना ब्रह्मपरक है, ऐसी मान्यता ही पूर्ण आस्तिकता है। ब्रह्मतत्व का प्रकाश वेद में हैं, इसलिये जो वेद प्रतिपाद्य ब्रह्मतत्व पर और

---

१. **सर्वस्य प्रभुमीशानं सर्वस्य शरणं बृहत्।**
**नवद्वारे पुरेदेही हँसो लेलायते बहि:,**
**वशी सर्वस्य लोकस्य स्थावरस्य चरस्य च।**

श्वेताश्वतरो० ३।१७-१८।

२. **सर्वव्यापिनमात्मानं क्षीणे सर्पिरिवार्पितं,**
**आत्मविद्यातपोमूलं तद्ब्रह्मोपनिषत्परम्।**

[श्वेताश्वतरोपनिषद १।१६]

३. द्वैविध्य रूपी वासना ढीली होकर जगत् के प्रति समत्व की भावना प्राप्त कराने वाली विद्या ही उपनिषद् है, ऐसा शाब्दिक व्याख्या से सिद्ध होता है।

वेद के सिद्धांतों पर पूर्ण आस्था रखता है वही पूर्ण आस्तिक है। व्याकरणकार पाणिनि के मत से परलोक की सत्ता पर विश्वास रखने वाला आस्तिक है। जो परलोक के अस्तित्व पर विश्वास नहीं करता वह नास्तिक है।[१] ऐसा अर्थ स्वीकार करने पर जैन, बौद्ध आदि सभी आस्तिक माने जावेंगे क्योंकि किसी न किसी रूप से परलोक की सत्ता स्वीकार करते हैं। ईश्वर की सत्ता मानने और न मानने वाले को यदि आस्तिक और नास्तिक कहेंगे तो एकमात्र वेदांतदर्शन ही पूर्ण आस्तिक होगा क्योंकि वही ब्रह्मतत्त्व पर पूर्ण रूप से विश्वास करता है, बाकी अन्य तो ईश्वरतत्व पर निर्भर नहीं हैं परंतु सांख्य, योग, वैशेषिक, न्याय, मीमांसा और वेदांत ये छः आस्तिक तथा चार्वाक, जैन एवं बौद्धों के चार सम्प्रदाय नास्तिक दर्शन के नाम से प्रसिद्ध हैं। इस प्रकार का विभाजन, वेद वाक्यों पर विश्वास करना और उनको प्रामाणिक मानने न मानने पर किया गया है। मनु जी के अनुसार वेद निंदक ही नास्तिक है।[२] धर्मतत्व की व्याख्या और रहस्य प्रकाशन में, आस्तिकों के लिये एकमात्र वेद ही प्रमाण है।[३] वेद के वाक्यों को सुनकर, उनको युक्तिपूर्वक मनन करते हुए वेद प्रतिपाद्य आत्मतत्व का ध्यान करना ही दर्शन का मुख्य उद्देश्य है।[४]

### चार्वाक दर्शन

पूर्ण नास्तिकदर्शन तो चार्वाक का ही है, क्योंकि वह वेद को धूर्तों की रचना मानते हैं।[५] ईश्वर और परलोक को भी कोरी कल्पनामात्र मानते हैं। शरीर के अतिरिक्त आत्मा का कोई अस्तित्व नहीं मानते। मरण को ही मुक्ति मानते हैं। जीवात्मा का अपने शुद्ध रूप में हो जाना ही मोक्ष मानते हैं।[६] प्रत्यक्ष दीखने वाली वस्तु ही सत्य है, परोक्ष वस्तु मिथ्या है। अर्थ और काम ये दो ही पुरुषार्थ हैं। धर्म और मोक्ष परोक्ष हैं अत एव वे

---

१. "अस्ति परलोकः" इत्येवं मतिर्यस्य स आस्तिकः। "नास्ति" इति मतिर्यस्य स नास्तिकः। पाणिनि सू० ४।४।६०

२. "नास्तिको वेद निंदकः"—मनुस्मृति २।११।।

३. धर्मजिज्ञासमानानां प्रमाणं परमं श्रुति—मनुस्मृति २।१३।।

४. **श्रोतव्यः श्रुति वाक्येभ्यो, मंतव्यश्चोपपत्तिभिः।**
**मत्वातु सततं ध्येयः एते दर्शन हेतवः।।**

५. **त्रयो वेदस्य कर्त्तारो भंड धूर्त निशाचराः।**
**जर्भरीतुर्फरीत्यादि पंडितानां वचः स्मृतम्।।**

६. **मरणमेवापवर्गः, आत्मनः स्वरूपेणावस्थितिर्मोक्षः।**
(स० द० सं० पृ० ४)

पुरुषार्थ नहीं हो सकते । जगत् स्वतः प्रकट होता है, उसे उत्पन्न करने वाला कोई नहीं है । जगत् को और शरीर को ही प्रधान मानने के कारण इस मत को लोकायतदर्शन भी कहते हैं । इस मत के प्रतिष्ठापक प्रधान आचार्य वृहस्पति कहे जाते हैं । इसके प्रवर्त्तक चार्वी नाम के कोई आचार्य थे, जो पूर्ण रूप से बुद्धिवादी थे । वैसे चार्वी का अर्थ बुद्धि भी है,[१] इसलिए प्रत्येक बुद्धिवादी चार्वाक कहा जाता है, वृहस्पति का अर्थ भी बुद्धिवादी होता है । बुद्धि नई-नई कल्पनाओं की प्रसूतिका है, इसलिये चार्वाकों को वैतण्डिक भी कहा गया है । जो शास्त्रीय (वेद) मत को भी चाट गये[२] इस अर्थ में भी चार्वाक प्रयोग किया गया है । इनकी बातों में बड़ी मनोरमता है, इसलिये भी ये चार्वाक कहे गये ।[३]

सच पूछा जावे तो चार्वाक कोई विशेष मत नहीं है । जगत्, जीव, ब्रह्म के विषय में संशयात्मिका प्रवृत्ति सदा से रही है और रहेगी । यहाँ तक की उपनिषदों में भी कहीं-कहीं ऐसी संशयित विचारधारा दिखलाई देती है ।[४] बुद्धिवादी ही लोक में अधिकांश होते हैं, इसलिये यह लोकायत मत है । जब कभी भी ब्रह्मवादी संप्रदाय अपनी पराकाष्ठा पर पहुँच जाता है तभी उससे ऊबकर लोक (जनसमूह) बुद्धिवादी हो जाता है । जैसे कि जगत् में सुख के बाद दुःख और दुःख के बाद सुख का क्रम अनवरत चलता रहता है, वैसे ही ब्रह्मवाद का क्रम चलता है । इतना निश्चित है, कि उपनिषद्काल के बाद अध्यात्मज्ञान की अति होने पर आचार्य बृहस्पति द्वारा संचालित कोई ऐसा प्रबल बुद्धिवादी संप्रदाय अवश्य चल पड़ा था जो हजारों वर्ष भारत में प्रबलतम रूप से चलता रहा है, जैन और बौद्ध संप्रदाय भी उसी के रूपांतर मात्र हैं । रूपांतर होने का भी वही (अति ही) कारण है । चार्वाक मत राजा (शासक) को ही ईश्वर मानता था ।[५] उन्होंने अर्थशास्त्र और कामशास्त्र का निर्माणकर जीवन को संयमित करने की चेष्टा की थी । जीवन को ऋण करके भी सुखी बनाओ[६] ऐसा कहते हुए भी

---

१. नयते चार्वी लोकायते, चार्वी बुद्धिः तत्संवंधादाचार्योऽपि चार्वी । सलोकायते शास्त्रे पदार्थान् नयते—काशिका वृत्ति सू० १।१।३६।

२. चर्व भक्षणे ऐसी क्रिया है उससे चार्वाक शब्द वना है ।

३. चारु (मनोरम) वाक् (वाणी) है जिनकी वे चार्वाक ।

४. "न प्रेत्य संज्ञास्ति" (वृहदारण्यक ४।५।१३) "मरणोत्तर इस जीव की संज्ञा नहीं रहती ।" "नायमस्यीति चैके" (कठोपनिषद् १।१।२०)" कुछ के मत में मरणोत्तर यह नहीं रहता ।"

५. निग्रहानुगृह कर्त्ता राजा ईश्वरः ।

६. यावज्जीवेत सुखं जीवेत, ऋणं कृत्वा घृतं पिवेत् ।

जीवन को उच्छृङ्खल और संयम-रहित बनाने की वे सलाह नहीं देते। संयमित समाज, सत्य, शिव और सुन्दर हो यही इनका लक्ष्य रहा है। इनका कोई ग्रंथ नहीं मिलता, स्फुट विचार सूत्र उल्लिखित मिलते हैं। हो सकता है कोई ग्रंथ हो जिसे ब्रह्मवादियों ने नष्ट कर दिया हो, क्योंकि यह विचारधारा सदा से धार्मिकों का सिर दर्द रहा है। आज भी बुद्धिवादी को हम लोग चार्वाक कह देते हैं। इस प्रकार जिन चार्वाकों ने वेद को धूर्तों की रचना कहा, आज चार्वाक शब्द भी उसी अर्थ में प्रयोग किया जाता है। आत्मबुद्धि को यह भी महत्व देते थे पर उन्होंने आत्मशुद्धि की कोई साधना प्रणाली समाज के समक्ष उपस्थित नहीं की थी, इसलिये समाज स्वतः संयमित बना रहता यह असंभव था। केवल कहने मात्र से अंतःकरण की शुद्धि बनी रहे ऐसा हो नहीं सकता। आज भी अधिकांश समाज बुद्धिवादी हैं, जो कि यही कहते हैं कि मन शुद्ध होना चाहिए साधना में क्या रक्खा है, पर जैसा शुद्ध मन है, वह तो राष्ट्र का प्रत्येक बच्चा जानता है। आज जो बुद्धिवाद की प्रबलता देखी जाती है, वह चार्वाकों के भौतिकवाद का ही प्रभाव है, जिसे ग्रीस के प्रसिद्ध भौतिकवादी डिमाक्रिट्स (४६० ई०पू०) एपुकुरियस (३४९ ई०पू०) लुक्रोशियस (९५ ई०पू०) ने प्रबलतम रूप से फैलाया था। आज १९वीं सदी के पॉजिटिविजम आदि दार्शनिकों पर चार्वाक मत की स्पष्ट छाप है। कम्युनिजम और मार्क्सवाद का सिद्धांत भी इस मत से पूर्णरूप से प्रभावित है। आज विश्व का पौन हिस्सा इस मत को ही व्यावहारिक मानता है। जीवन में संयम को प्रत्येक महत्व देते हैं पर उनके समक्ष कोई मनोनुकूल संयमन की प्रक्रिया नहीं है। प्राचीन चार्वाकों के संयमन के लिये तो जैन और बौद्ध मत ने एक आचारप्रणाली सामने उपस्थित की थी जो चलती रही परंतु प्रबल भागवत धर्म में लीन हो गई क्योंकि वह (जैन-बौद्धों की) प्रणाली भी व्यवहार्य न हो सकी। भागवत धर्म ने जो ज्ञान क्रियात्मक सहज प्रणाली समाज के समक्ष उपस्थित की, उससे बौद्ध धर्म का ऐसा सामंजस्य स्थापित हुआ कि उसे पृथक् किया नहीं जा सकता था परंतु उसको पृथक् करने वाला तान्त्रिकों का अति आचार था, जिसको समाप्त कर देना परमावश्यक था। शंकराचार्य जी ने यह कार्य संपादन किया और केवल ज्ञानमार्ग का अद्वैत सिद्धांत स्थापित किया। आचार्य शंकर के आंदोलन से बौद्ध धर्म तो हिल गया पर ब्रह्मवादी भारत ने शंकर को भी अर्द्ध बौद्ध की उपाधि देकर पुनः भागवतधर्म के ज्ञानकर्म समुच्चयात्मक मत को स्थापित किया। भागवतों का ज्ञानकर्म समुच्चयात्मक मत न पूर्ण अद्वैत है, न पूर्ण द्वैत अपितु वह व्यवहार्य द्वैताद्वैत मत है। कोई भी प्राणी द्वैत होकर या अद्वैत होकर संसार में जी नहीं सकता,

उसे तो द्वैताद्वैतवादी होना ही पड़ेगा, यही व्यावहारिक मत है। भागवत धर्म के परवर्त्ती आचार्यों ने साधना को इतना व्यापक क्रियात्मक रूप दे दिया कि आज के समाज को उसे बरबस आडंबर की संज्ञा देनी पड़ी है और आज के हजारों वर्ष पूर्व के बौद्ध धर्म को पुन: मानने के लिये खिंचाव हो रहा है। पर भागवत धर्म के प्रबल संस्कारों की शृंखला टूट नहीं पा रही है। क्योंकि भागवत धर्म ने मानव समाज को और बौद्ध धर्म को भी अनुप्राणित किया है। भागवत धर्म के मूलतत्व, ज्ञानकर्म समुच्चयवाद को ही पुन: सामने लाना चाहिये वही सहायक हो सकता है। भारत में सर्वप्रथम ज्ञानकर्म समुचयवाद की स्थापना श्री निंबार्क ने की थी द्वैताद्वैत के रूप में। आज भी उसी की आवश्यकता है। श्री निंबार्क क्रिया को सहायक मात्र मानते हैं प्रधान नहीं। आज का वैष्णव समाज क्रिया में ही जकड़ गया है तभी उसके प्रति आस्था उठती जाती है। जैन और बौद्ध मत में भी क्रिया की यह जटिलता आ गई थी और है भी, इसीलिये वह व्यवहार्य नहीं रहे।

**जैन दर्शत्त**

जैनमत को बौद्धों से प्राचीन माना जाता है इसके प्रवर्त्तक पार्श्वनाथ और महाबीर स्वामी हैं। इसको पहले पाली भाषा में 'निगण्ठ'' मत कहते थे, जो कि संस्कृत के निर्ग्रंथ का द्योतक है, जिसका तात्पर्य होता है, भव बंधन से छूटने वाला। इसी तात्पर्य का परिचायक अर्हत्[१] शब्द भी है इसीलिये इसे अर्हतमत कहते हैं। राग-द्वेषादि शत्रुओं पर विजय पाने के कारण ही भवबंधन के जेता, जिन कहलाये, उन जितेन्द्रियों का मत ही जैन मत है। इस धर्म में आचार की प्रधानता है। ये जीव को चैतन्यमय मानते हैं,[२], ज्ञान ही जीव का साक्षात् लक्षण है, वह स्वभाव से ही अनंतज्ञान सम्पन्न है। कर्मों के कारण ही उसका विशुद्ध रूप ढंका रहता है।[३] सम्यक् चरित्र की साधना से जीव का शुद्ध रूप पाया जा सकता है। वही कैवल्य और सर्वज्ञता है। इंद्रिय तथा मन की साधना के द्वारा होने वाला ज्ञान परोक्ष ज्ञान है। इसी को मतज्ञान, स्मृति ज्ञान, संज्ञाज्ञान, चिंताज्ञान, अभिनिबोधज्ञान कहते हैं। यह मतिज्ञान भी दो प्रकार का है, इंद्रियजन्य और मानस। जीवात्मा जब

---

१. **सर्वज्ञोजित रागादि दोषोस्त्रैलोक्य पूजितः।**
**यथास्थितार्थवाद च देवोऽर्हन् परमेश्वरः॥** स०द०सं० पृ० ६
[सर्वज्ञ, रागादिदोषों के विजेता, त्रैलोक्य पूजित, यथास्थितार्थवादी, सामर्थ्यवान् महापुरुष को अर्हत् कहते हैं]

२. चैतन्य लक्षणो जीवः।

३. तत्वार्थाधिगम सूत्र [२।३२—३६]

विशिष्ट साधनों की सहायता से प्रतिबंधक आवरणीय कर्मों का आंशिक क्षय कर लेता है तो उसे भूत, भविष्य और वर्तमान का ज्ञान प्रत्यक्षरूप से होने लगता है, यह उसका अवधिज्ञान है जब जीव द्रोह, ईर्ष्या आदि प्रवृत्तियों के निरोधक कर्मों को नष्ट कर देता है तो उसको दूसरो के मन की बात जानने की योग्यता आ जाती है। इसे मनः पर्याय ज्ञान कहते हैं। जब समस्त आवारणीय कर्मों का क्षय हो जाता है, तब उसे अपना शुद्ध रूप प्राप्त हो जाता है, वही जीव की स्वरूप प्राप्ति है यही केवल ज्ञान या कैवल्य प्राप्ति है। ऐसा सर्वज्ञ सिद्ध पुरुष का रूप होता है। जैन दर्शन के अनुसार जागतिक पदार्थ नित्यानित्य हैं। उनके मत में जगत् की अनेकता भी सत्य है और एकता भी सत्य है। जैसे कि सुवर्ण के आभूषण अनेक रूप से निर्माण किये जाते हैं, पर सुवर्ण और आभूषण दोनों ही सत्य हैं, वैसे ही जगत् भी है।

जीव संसारी होने से बद्ध तथा सांसारिक कर्मों से निर्मुक्ति होने के कारण मुक्त है। शुभाशुभ कर्मों के प्रभाव से जीवन के स्वाभाविक विशुद्धरूप पर आवरण हो जाता है। जीव शुभाशुभ कर्मों का कर्त्ता और कर्म फलों का भोक्ता भी है। नित्य होने पर भी कर्मों के कारण ही जीव परिणामशील है। जीव न तो विभु है न अणु, अपितु वह शरीर के परिमाण के अनुसार रूप धारण करता है। जैसे कि हाथी के विशाल शरीर में विशाल तथा चींटी के सूक्ष्म शरीर में सूक्ष्म होता है।

अजीव जागतिक पदार्थों को ये पुद्‌गल कहते हैं। जिसका अर्थ होता है बढ़ने घटने वाला।[१] जो निरवयव सूक्ष्म रहने पर अणु रूप होते हैं तथा जो एक दूसरे से मिलकर वृहदाकार धारण कर लेते हैं, वह उनका संघात रूप है। इन संघातों से शरीर, मन, प्राण आदि की सृष्टि होती है। इन्हीं से पृथ्वी, जल, तेज, वायु की सृष्टि होती है। अणु ही जगत् के कारण हैं।

जैन दर्शन मोक्ष के तीन साधन मानता है—सम्यक् दर्शन, सम्यक् ज्ञान तथा सम्यक् चरित्र। दर्शन का अर्थ यह श्रद्धा करते हैं, अर्थात् मोक्ष मार्ग के साधन में सम्पूर्ण रूप से श्रद्धा होना परमावश्यक है।[२] सिद्ध पुरुषों द्वारा उपदिष्ट तत्वों पर श्रद्धान्वित होना साधन के लिये आवश्यकीय है। उन्हीं महापुरुषों के निर्दिष्ट शास्त्रीय सिद्धांतों और तत्त्वों का यथार्थ गम्भीर अनुभव करना ही सम्यक् ज्ञान है। उस अनुभव को अपने जीवन में

---

१. पूरयंति गलंति च इति पुद्‌गलः [सर्वदर्शन संग्रह]

२. सम्यक् दर्शन ज्ञान चरित्राणि मोक्ष मार्गः तत्वार्थ सू० १।१।।

कार्यान्वित करना ही सम्यक् चरित्र है। यही जैन दर्शन का रत्नत्रय है जो कि मोक्ष की सम्यक्साधना है।[1]

फलोन्मुख कर्म को सम्यक् के द्वारा जीर्ण कर देने को यह निर्जरा कहते हैं। भोगात्मक जगत् और भोगायतन शरीर के साथ जीवात्मा के वचन और क्रिया का योग होना आस्रव है। इस आस्रव के द्वारा जीव का जगत् और शरीर के कर्मों में आसक्ति होना बंध है। इस बंध से मुक्त होने के उपाय की साधना ही संवर है। संवर और निर्जरा अवस्था से कर्मों का आत्यंतिक क्षय होता है, यही मोक्ष है।[2] मोक्ष में ही अनन्त चतुष्टयों[3] की प्राप्ति होती है और जीव का विशुद्ध रूप प्रकाशित हो जाता है। स्वरूप प्राप्त कैवल्य स्वभाव जीव अपने आदर्शचरित्र से प्राणिमात्र का कल्याण सम्पादन करता है।

पाँच सार्वभौम महाव्रतों से जैन सम्यक् चरित्र की सिद्धि मानते हैं।[4] उन महाव्रतों में गृहस्थों के लिए शिथिलता दिखलाई गई है। आचार के नियमों के पालन में बड़ी कठोरता की व्यवस्था जैन मत की विशेषता है। अहिंसा आदि का बड़ा विहङ्गम रूप उपस्थित किया गया, जो कि व्यावहारिक जगत् में सामान्य जनों के लिये अशक्य सा हो जाता है। जो कि आडम्बरित हो गया है।

### बौद्ध दर्शन

बौद्ध दर्शन उपनिषद् के इस सिद्धान्त पर निर्भर है कि "मरणधर्मा के हृदय की सम्पूर्ण कमानायें जिस समय नष्ट हो जाती हैं, तभी वह यहीं अमृत हो जाता है।[5] जो कुछ भी वह परोक्ष-अपरोक्ष करता है, वही उसका तदनुसार फल भोक्ता है, जैसा करता है, वैसा ही उसका आचरण होता है, वैसा ही वह हो जाता है। अच्छे आचरण वाला अच्छा होता है तथा दुष्ट आचारण वाला पापी होता है। पुण्य से पुण्यकर्म तथा पाप से पापकर्म होते हैं। जैसी कामना करता है वैसा ही संकल्प होता है, जैसा संकल्प होता है, वैसा ही वह कर्म करता है और उस कर्म के अनुसार वैसा ही वह फल प्राप्त

---

१. तत्वार्थ श्रद्धानं सम्यग्दर्शनम् तत्वार्थ सू० १।२।

२. वंध हेत्वाभावनिर्जराभ्यांकृत्स्नकर्मक्षयो मोक्षः
तत्वार्थ सू० १०।२-३।

३. अनन्त ज्ञान, अनन्त वीर्य, अनन्त श्रद्धा, अनन्त शान्ति

४. अहिंसा, सत्य, अस्तेय, व्रह्मचर्य, अपरिग्रह।

५. यदासर्वे प्रमुच्यंते कामायेऽस्य हृदिश्रिताः, अथमर्त्योऽमृतो भवत्यत्र।
वृहदारण्यक०, ४।४।७।

करता है।[१] इसलिये मानव को आत्मशुद्धि की सदा चेष्टा करनी चाहिए। शील, समाधि और प्रज्ञा ये तीन आत्म शोधन के उपाय हैं। अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और मादक द्रव्यों का त्याग ये पाँच सात्विक कर्म ही पञ्चशील हैं। जो भिक्षु और गृहस्थ दोनों के लिये समान रूप से पालन करने योग्य हैं। चित्तवृत्तियों का निरोध होने पर समाधि होती है, जिसमें पूर्व जन्म की स्मृति, जन्म-मृत्यु का ज्ञान तथा चित्त की बाधक वृत्तियों का समाधान होता है। आप्त महापुरुषों के उपदिष्ट तत्व का चिंतन करने से, उस पर युक्तिपूर्वक विचार करने से तथा समाधि से जो ज्ञान प्राप्त होता है वही प्रज्ञा है।[२] शील सम्पन्न, प्रज्ञा सम्पन्न व्यक्ति ही समाधि सम्पन्न होकर निर्वाण प्राप्त करता है। चित्त की निर्मलता ही निर्वाण है।

सम्पूर्ण दृश्यमान जगत् नाशवान व अनित्य है। जगत् का व्यवहार, कर्म विपाक के कारण चल रहा है, इसको चलाने वाला कोई नित्य सर्व व्यापक परब्रह्म नाम का तत्व नहीं है। सारा जगत् नाम रूपात्मक है। आत्म-अनात्म के चक्र में पड़कर समय खोना व्यर्थ है। कर्म विपाक के कारण ही नाम रूपात्मक देह को नाशवान जगत् के प्रपञ्च में जन्म लेना पड़ता है। पुनर्जन्म का यह चक्र और संसार दुःखमय है, इससे छूटने के लिए उपाय करके शान्ति प्राप्त करना ही मानव-जीवन का ध्येय है। जो भिक्षु (साधक) बुद्ध के उपदेश द्वारा अपने को, अपने अन्तःकरण की गुहा के सूक्ष्म कारण में ही लीन कर तत्त्व का अन्वेषण करता है, वह मेघ से मुक्त चन्द्रमा की भाँति इस लोक को प्रकाशित करता है।[३]

---

१. यदेतदिदम्मयोऽदोमय इति, यथाकारी, यथाचारी तथा भवति—साधु-कारी साधुर्भवति, पापकारी पापो भवति, पुण्यः पुण्येन कर्मणा भवति पापः पापेन। यथा कामो भवति, तत्क्रतुर्भवति, तत्कर्म कुरुते तदभिसंपद्यते।

बृहदारण्यक०, ४।४।५।

२. श्रुतमयी, चिंतामयी और भावनामयी तीन प्रकार की प्रज्ञा होती है।

३. **योह वेदहरो भिक्खु युञ्जते बुद्ध सासने।**
**सो इमं लोकं पभासेति अब्भा मुत्तो व चन्दिमा॥**

धम्मपद भिक्खुवग्गो २३।

यहाँ दहर शब्द छांदोग्योपनिषद् ८।१।१ में कहे गये अन्तःकरण के अष्टदल कमल में निहित सूक्ष्माकाश के लिये ही कहा गया है, उसी के अन्वेषण की वात उपनिषद् भी करता है और वुद्ध भी। उपनिषद् उस सूक्ष्माकाश को ब्रह्म कहते हैं। वुद्ध उसे निर्मल आत्मशोधन मानते हैं उसी को प्राप्त करके वह चन्द्रमा के समान निर्मल होना कहते हैं। उपनिषद् के मत में जीवात्मा का यह प्रकाशमय रूप ब्रह्मात्मभाव की प्राप्ति है।

[इस तथ्य का मनन ब्रह्मसूत्र १।३।१४ के दहर अधिकरण में करें]

हमारी बुद्धि सविकल्प और सापेक्ष होने के कारण तत्व ग्रहण करने में असमर्थ रहती है। तत्व अवाङ्मनसगोचर, अद्वय, अजर, अमर, शाश्वत और अनन्त है। वह तर्क का विषय नहीं अपितु अपरोक्षानुभूति का विषय है। निर्विकल्प, निरपेक्ष, गम्भीर, शांत, आनन्दस्वरूप, विशुद्ध विज्ञान रूप है। वही बोधि और प्रज्ञा है, उसी को प्राप्त करना चरम लक्ष्य है। संसार दुःख रूप है, अज्ञान से ही उस दुःख की अनुभूति होती है। काया का संवर, (संयम) वाणी का संवर, मन का संवर, इंद्रियों का संवर होने से भिन्न दुःखों से मुक्ति हो जाती है।[1] संयम ही ज्ञान प्राप्ति का साधन है। इसी की साधना से प्रज्ञा और सम्यक् संबोधि होती है। यही साक्षात्कार का सुलभ मार्ग है, इससे परमानन्द रूप सुख प्राप्त होता है।

यज्ञों की हिंसात्मक प्रवृत्ति तथा जातिवाद के अत्याचारों से बुद्ध को जो आघात हुआ उसके फलस्वरूप उन्होंने वर्ण और आश्रम व्यवस्था में व्याप्त अनैतिकता की कटु आलोचना की। उनकी आलोचना के विशेष लक्ष्य ब्राह्मण ही अधिक थे, क्योंकि ब्राह्मण ही विशेष रूप से धर्म तत्व को आडंबर से जकड़े हुए थे। उन्होंने "ब्रह्मं जानाति स ब्राह्मणः" (ब्रह्म को जानने वाला ब्राह्मण है] इस वास्तविक अन्वर्थ ब्राह्मण शब्द को स्वीकार किया था। इसलिए बुद्ध अपने उपदेश में ब्राह्मण के वास्तविक स्वरूप की नम्रतापूर्वक प्रशंसनीय व्याख्या करते थे। वे कहते थे कि, निर्भय, अनासक्त, पापरहित, सत्य और धर्मयुक्त, पवित्र, तपस्यारत, अक्रोधी, व्रती, शीलवान, बहुश्रुत, संयमी, गम्भीर प्रज्ञावान, मेधावी, मार्ग, अमार्ग के ज्ञाता, कृतकृत्य, पाप-पुण्य की आसक्ति और शोक से रहित, निर्मल, शुद्ध चरित्र वाले को ही ब्राह्मण कहता हूँ अन्य को नहीं। ऐसे ब्राह्मण पर प्रहार नहीं करना चाहिये और ब्राह्मण को भी उस प्रहार कर्त्ता पर कोप न करना चाहिये।[2]

---

१. **कायेन संवरः साधुः साधुः वाचा संवरः,**
**मनसा संवरः साधु साधु सर्वत्रसंवरः।**
**सर्वत्र संवृत्तो भिक्षुः सर्व दुखात् प्रमुच्यते।**

[संस्कृत छाया] धम्मपद २५।२

२. वीतदरं विसञ्जुत्तं तमहं ब्रूमि ब्राह्मणम्—वाहित पापोति ब्राह्मणो यम्मि सच्चञ्च धम्मो च मो सुची सोच ब्राह्मणो—झायंतं तमहं ब्रूमि ब्राह्मणं—अकिंचनं अनादानं तमहं ब्रूमि ब्राह्मणं—अक्कोधनं, वतवंतं सीलवंतं अनुस्सदं, दंतं अतिशरीरं तमहं ब्रूमि ब्राह्मणं—गंभीरपञ्ञं मेधावि मग्गामग्गस्स कोविद उत्तमत्थं अनुप्पत्तं तमहं ब्रूमि ब्राह्मणं—यो, घ पुञ्ञम् पापञ्च उभोसंगं उपच्चगा असोकं विरजं सुद्ध तमहं ब्रूमि ब्राह्मणं—न ब्राह्मणस्य पहरेय्य नास्य मुंच्चेथ ब्राह्मणो—

धम्मपद-ब्राह्मणवग्गो सारांश।

बुद्ध अहंकार को ही सारे पापों की जड़ मानते थे, इसलिये उन्होंने उस समय के अहं ममाभिमानी ब्राह्मण वर्ग की आलोचना की है। बुद्ध अहंतत्व को दबाकर ही बुद्धत्व की प्राप्ति मानते थे। अहं को दबा कर ही आत्मसंयम हो सकता है। मनुष्य स्वतः अपना स्वामी है। स्वतः अपना उद्धार कर सकता है, इसलिये आत्मसंयमी होना चाहिये। स्वयं अपने को जागृत करके शुभाचरण में लगाना चाहिये।[१]

बुद्ध ने वैदिक वर्णाश्रम-व्यवस्था में बढ़ती हुई अनर्गलता का विरोधकर हिंसात्मक श्रौत (यज्ञों) को कुत्सित बतलाकर अहिंसा, सत्य, अस्तेय, सर्वभूतानुकंपा (प्राणिमात्र पर दया-दृष्टि) तथा आत्मौपम्य दृष्टि (आत्मीयता) का उपदेश दिया, जो कि वेदमूलक ही थे, जिन्हें प्रमादी समाज भूल चुका था, सांसारिक कामनाओं की प्राप्ति के लिये सतत् चेष्टवान था। काम्यकर्मों की प्राप्ति के लिये आसक्तिपूर्वक अनेक हिंसात्मक यज्ञ तक करने लगा था। ऐसे प्रमादयुक्त समाज को देखकर बुद्ध को कहना पड़ा—"प्रमाद में मत फँसो, कर्मों में आसक्ति मत करो। प्रमाद रहित ही सुख प्राप्त करता है।"[२] वैसे शास्त्रीयनीतिपूर्ण सात्विकभाव सम्पन्न, भारतीय संस्कृति के स्तंभ ब्राह्मणों की स्तुति स्वयं बुद्ध बड़ी श्रद्धा के साथ "ब्राह्मण धम्मिक" सुत्तों में करते हैं।

महात्मा बुद्ध के इस नैतिक शिक्षण और नैतिक आचारों को तथा उनके उपदेशों को समाज के सामने उपस्थित करने वाला संप्रदाय हीनयान

---

बुद्ध जन्म से जाति नहीं मानते थे वे कर्म ही की प्रधानता स्वीकार करते थे—

**न जटाहि, न गोत्तेहि, न जच्चा होति ब्राह्मणो**
**यम्हि सच्चञ्च धम्मो च सो सुची सो च ब्राह्मणो।**

**धम्मपद ब्राह्मण वग्गो ११**

**न जटा से, न गोत्र से, न जन्म से ब्राह्मण होता है अपितु जिसमें सत्य और धर्म है, वही शुचि और ब्राह्मण है।**

**अकिंचनं अनादानं तमहं ब्रूमि ब्राह्मणं—** धम्मपद ६।३९।

**जो अकिंचन है और दान नहीं लेता उसी को मैं ब्राह्मण कहता हूँ।**

१. **अत्तना चोदयत्तानं पटिवासे अत्तमत्तना,**
**अत्ता हि अत्तनो नाथो अत्ताहि अत्तनोगतिः, तस्मा संजमयत्तानं**
धम्मपद २५।२०-२१

२. **मा पमादमनुयुंजेथ, मा कामरति सन्थवं**
**अप्मत्तो हि झायंतो पप्योति विपुलं सुखं।** धम्मपद अप्पमादवग्गो ७

के नाम से प्रसिद्ध हुआ। इसमें दो मत थे। एक वाह्यार्थ प्रत्यक्षवाद को मानता था दूसरा वाह्यार्थानुमेयवाद का समर्थक था। पहले के मत के अनुसार, अनुभव में आने वाले इंद्रियों द्वारा ज्ञात जगत् की वाह्यसत्ता अवश्य है। हमारे भीतर चित्त की सत्ता भी स्वतंत्र रूप से है। बाहरी पदार्थों की सत्ता चित्त निरपेक्ष है। हम अपनी इंद्रियों की सहायता से ही बाहरी पदार्थों की सत्ता प्रत्यक्ष रूप से मानते हैं। वाह्य तथा आन्तरिक पदार्थ स्वतंत्र रूप से पृथक्-पृथक् सत्ता-धारण करते हैं। इसलिये संसार सत्य है।

वाह्यार्थानुमेयवादी के मत में जगत् की वाह्यसत्ता है तो अवश्य, परंतु हमारी इंद्रियो द्वारा उसका प्रत्यक्ष नहीं होता। सभी पदार्थ क्षणिक हैं तो उनका प्रत्यक्ष ज्ञान हो ही नहीं सकता। प्रत्येक पदार्थ क्षण-क्षण बदलता रहता है, इसलिये इंद्रियों से ग्राह्य होते-होते वह बदल जाता है। इंद्रियों से केवल उसका अनुमान मात्र होता है। इसलिये बाहरी पदार्थों का ज्ञान प्रत्यक्ष से न होकर अनुमान से होता है। चित्त में जिस पदार्थ के आकार और प्रकार का अनुमान हो जाता है, वैसी ही बाहरी अनुभूति होती है। इसलिये बाहरी पदार्थ चित्त सापेक्ष हैं, पृथक् नहीं।

इस प्रकार दोनों ही आंतरिक और बाह्य सत्ता अस्तित्व स्वीकार करते हैं, परंतु पहला प्रत्यक्ष से दूसरा अनुमान से। दोनों ही सर्वास्तित्ववादी हैं।

हीनयान के बाद एक मत और प्रचलित हुआ जो महायान के नाम से प्रसिद्ध हुआ, इसमें भी दो भेद हुए। एक विज्ञानवाद, दूसरा शून्यवाद।[१] विज्ञानवाद सत्ता की मीमांसा अधिक व्यापक रूप से करता है। वह वाह्य सत्ता को विलकुल स्वीकार नहीं करता। वह आंतरिक ज्ञान की ही सत्ता मानता है। उसकी दृष्टि में अंतःकरण में होने वाली कल्पना ही साकार रूप में जगत् रूप में दीखती है। ज्ञान द्वारा होने वाली विज्ञप्ति को ही वह विज्ञान कहता है। विज्ञान को ही चित्त, मन कहता है [चेतन क्रिया से संबंध होने के कारण वह चित्त है, मनन करने के कारण वह मन है, तथा विषयों का ग्राहक होने के कारण वह विज्ञान कहा जाता है।

शून्यवादी न तो वाह्यार्थ को मानते हैं और न विज्ञान को ही। उनके मत में शून्य तत्व है, जो कि सत् असत् से भिन्न विलक्षण अनिर्वचनीय

---

१. ये चारों मत बुद्ध के २०० वर्ष बाद ही चले थे और ई० पू० ३री सदी तक इनकी महत्ता मानी जाती है।

बौद्धदर्शन पृ० ७७-७८, राहुल सांकृत्यायन

रहस्यात्मक तत्त्व है। शून्य शब्द अभाव का द्योतक नहीं अपितु अज्ञेय का द्योतक है। इस प्रकार विज्ञानवाद और शून्यवाद जगत् का अस्तित्व स्वीकार नहीं करते। बौद्ध दर्शन की साधना प्रणाली प्रत्यक्ष से अनुमान, विज्ञान होकर क्रमशः शून्य में विलीन हो जाती है। यही बौद्ध साधना का अंतिम फल है।[१]

इस प्रकार हम देखते हैं, कि प्रायः सभी दर्शन दुःख से आत्यंतिक मुक्ति चाहते हैं। किसी न किसी रूप से सभी उस लक्ष्य तक पहुँचते हैं। किसी में विरोध की भावना परिलक्षित नहीं होती सभी यथाशक्ति सरल से सरल उपाय निकालने की चेष्टा करते हैं।

न्याय, वैशेषिक सांख्य के मत में दुःखों की अत्यंत निवृत्ति ही मोक्ष है। वेदांती अविद्या की निवृत्ति को मोक्ष कहते हैं। योग दर्शन जीव की स्वरूप प्राप्ति को कैवल्य कहता है। मीमांसक की दृष्टि में सुख दुःखात्मक उभयविध प्रवृत्तियों को मन से विलग होकर निर्मल होना ही मोक्ष है। ऐसा ही लगभग जैन और बौद्धों का भी मोक्ष विषयक मत है। जीव जगत् और विद्या के विषय में भी लगभग एक सी धारणा है सब की। ईश्वर के विषय में अवश्य विकल्प रहा है। अधिकांश दर्शन, संशयित ही रहे हैं, जिसने अंशतः ईश्वर तत्व को माना भी है, तो केवल निमित्त रूप में ही। जैसे कि न्याय और वैशेषिक ईश्वर को जगत् का निमित्त कारण ही मानते हैं। सांख्य तो "ईश्वरासिद्धेः" कह कर ईश्वर तत्त्व का प्रत्याख्यान ही करता है। योगदर्शन की दृष्टि में साधना का आश्रयत्व ईश्वर है। मीमांसादर्शन को ईश्वरतत्व पर आस्था नहीं है। एकमात्र वेदांत दर्शन ही ईश्वर को जगत् का कारण और श्रेष्ठ स्वीकार करता है। विवेचन और

---

१. इन चारों मतों का निराकरण श्री निंवार्काचार्य जी ने अपने अविरोधाध्याय में किया है। श्री निंवार्काचार्य के वाद इन मतों का विशेष नामकरण वभाषिक, सौतांत्रिक, योगाचार और माध्यमिक हुआ। वुद्ध के ३०० वर्ष वाद कात्यायनी पुत्र ने 'अभिधर्मज्ञान प्रस्थान शास्त्र" ग्रंथ रचा था, उस पर कनिष्क के युग में "अभिधर्म विभाषाशास्त्र" भाषा ग्रंथ की रचना हुई इसलिए वैभाषिक मत कहा गया। ये दोनों अव तिब्वती और चीनी भाषा में ही प्राप्त हैं [वाद में तो अनेक ग्रंथ लिखे गये] तथागत वुद्ध के उपदेश सूत्र रूप से सुत्तपिटक में संग्रहीत हैं, वे ही वाह्यर्थानुमेयवाद के आधार हैं उन्हीं को सौतांत्रिक नाम दिया गया। विज्ञानवाद में आगे चलकर सदाचार का योग हुआ इसलिये वह योगाचार कहा गया था। शून्यवाद नागार्जुन के ग्रंथ "माध्यमिककारिका" के नाम से माध्यमिक मत कहलाया। इस समय इन चारों मतों के विपुलग्रंथ हैं।

तत्वों के निरूपण की प्रणाली भिन्न होते हुए भी लक्ष्य सिद्धि अविरुद्ध है। सभी सुख चाहते हैं। वेदांती ब्रह्म को ही सुख मानते है।

### भगवान् बादरायण

इन सभी विभिन्नताओं को समन्वय करने की चेष्टा पुनः वेदांतदर्शन ने ही की है। इस महत्वपूर्ण कार्य को भगवान् बादरायण ने किया। बादरायण व्यास थे, क्योंकि उन्होंने वैदिक तत्वों का विस्तार किया था। वैदिक रहस्य के उद्घाटक को ही व्यास पदवी प्राप्त थी[१]। व्यास निश्चित ही अनेक हुए हैं। भागवत एकादश स्कंध में श्रीकृष्ण जी ने उद्धव से विभूतियोग का वर्णन करते हुए कहा है, कि "मैं व्यासों में द्वैपायन व्यास हूँ।"[२] सामान्यतः दार्शनिकों में और धार्मिकों में यह भ्रांत धारणा रही है कि व्यास एक हैं, जिन्होंने वेदों का विस्तार किया, महाभारत और अठारह पुराण बनाये तथा ब्रह्म सूत्र की रचना की। पर गवेषणा करने पर यह धारणा निर्मूल हो जाती है। पुराणों में अट्ठाइस व्यास कहे गए हैं। कृष्ण द्वैपायन अट्ठाइसवें व्यास हैं तथा उनतीसवें व्यास द्रौणि कहे गये हैं।[३] ज्ञात होता है, कि द्रोण पुत्र, बादरायण ही द्रौणि हैं। बादरायण को निंबार्काचार्य जी प्रायः सभी जगह भगवान् कहते हैं, जिससे ज्ञात होता है, कि ब्रह्मसूत्र के रचयिता बादरायण ही हैं, क्योंकि ब्रह्मसूत्र में सृष्टि की उत्पत्ति, प्रलय, जीवों का आवागमन, माया और विद्या आदि तत्त्व विवेचन किये गये हैं,[४] इसका ज्ञान

---

१. "वेदविभागकर्तृणा"—श्रीधर स्वामी—भागवत टीका।
२. "द्वैपायनोऽस्मि व्यासानाम्"—भागवत, ११।१६।२८॥
३. "एकोनविंशति संप्राप्ते द्रौणिव्यासो" देवी भागवत, १।३।२३। २८ व्यासों का वर्णन देवी भागवत।१।३।२६-३४। विष्णु पु० ३।३ में भी है
४. **उत्पत्तिं प्रलयं चैव भुतानामागतिं गतिम्।**
**वेत्ति विद्यामविद्यां च सवाच्चो भगवानिति।**

**नारद पुराण ४६।२१।**

**अचतुर वदनो ब्रह्माद्विबाहुरपरो हरिः।**
**अभाल लोचनः शंभुः भगवान बादरायणः॥**
**ब्राह्मणो ब्राह्मणानां च तथानुग्रह कांक्षया।**
**विव्यास वेदान् यस्मात् स तस्माद् व्यास इति स्मृतः॥**

महाभारत आ० प० ६३।८८।

भागवत १।७।१ में भी भगवान् बादरायणः कहा गया है।

श्रीमद्भागवत में कृष्ण द्वैपायन और बादरायण दोनों व्यासों की लीला को मिलाकर एक कर दिया गया है, इसलिए प्रायः लोगों को भ्रम हो जाता है।

हैं। महाभारत के अध्ययन से ज्ञात होता है कि कृष्ण द्वैपायन भगवान् श्री कृष्ण के समकालीन थे। जब कि बादरायण जी निश्चित ही महात्मा बुद्ध के बाद ई०पू० ४ शती में हुए थे, जैसा कि ब्रह्मसूत्रों के अध्ययन करने से ब्रह्मसूत्र के रचयिता बादरायण व्यास हैं, कृष्ण द्वैपायन नहीं विचार करने पर स्पष्ट हो जाता है। कृष्ण द्वैपायन ब्रह्मसूत्र के रचयिता नहीं हो सकते क्योंकि ब्रह्मसूत्र में बृहदारण्यकोपनिषद् में संकलित याज्ञवल्क्य के दार्शनिक विचारों की मीमांसा की गई है। विष्णुपुराण के अनुसार याज्ञवल्क्य कृष्णद्वैपायन जी की शिष्य (परंपरा) की तृतीय पीढ़ी में कहे गये हैं।[१] याज्ञवल्क्य ने ... अनुष्ठान के द्वारा सूर्य से शुक्ल यजुर्वेद को प्राप्त किया था।[२] कृष्ण द्वैपायन व्यास ने तो वेदों का ही विस्तार किया है, पुराणों का संकलन नहीं जैसा कि महाभारत और विष्णुपुराण से सिद्ध होता है।[३] महाभारत की रचना ... इन्हीं द्वैपायन वेदव्यास की है।[४] परन्तु उसमें भी कुछ अंश बादरायण जी के है, जो कि बुद्ध के बाद का ही है।[५] वेदव्यास जी ने वेद के तात्पर्य-निरूपण के लिये पंचम वेद महाभारत की रचना की थी। महाभरत में पौराणिक अंश का भी संकलन है, इसलिये महाभारत पूर्ण रूप से इतिहास नहीं है। पुराण का अस्तित्व सदा रहा है, वेदों के समान उनका भी प्रादुर्भाव और तिरोभाव ही होता रहा है। प्राचीन इतिवृत्तात्मक उदंतों को नवीन रूप देना ... पुराण की रचना है।[६]

अनेक सृष्टियों और प्रलयों के उदंत न हों वे ही पुराण होते हैं। ब्रह्मा भी सृष्टि के आदि में सर्व प्रथम पौराणिक रहस्यों का स्मरण कर वेद का उच्चारण करते हैं।[७] इससे स्पष्ट है कि वेद भी, पौराणिक रहस्य

---

१. विष्णु पुराण, ३।४।१८।

२. विष्णु पुराण, ३।५। संपूर्ण।

३. महा०, आदि०, अ०, ६३ श्लो०, ८८-९० तथा वि०पु० ३।४।...

४. **कृष्ण द्वैपायनं व्यासं विद्धि नारायणं प्रभुम्।**
**को ह्यन्यो भुवि मैत्रेय महाभारत कृद्भवेत्।** वि०पु० ३।४...

५. महाभारत वनपर्व १९०।६८। में "एडूक चिन्हा पृथ्वी न देव... भूषिता" कहा गया है, जिसका तात्पर्य होता है कि पृथ्वी में मंदिरो के स्थान... एडूक (समाधियाँ) होंगी। एडूक डागोबा के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है, जो संस्कृत भाषा के धातु गर्भ (पाली का डागव) का अपभ्रंश है। सीलोन और ब्रह्मा में डागोबा वहुत हैं। भारत में भी बुद्ध के समाधिस्थल थे।

६. पुरानवम् = पुराणम्। पुरार्थेषु आनयतीति पुराणम्—पद्म पुराण

७. **पुराणं सर्व शास्त्राणां प्रथमं ब्रह्मणा स्मृतम्।**
**अनंतरं च वक्त्रेभ्यो वेदास्तस्य विनिर्गताः।** मत्स्य (पुराण), ५...

उद्‌घाटन मात्र हैं। इसीलिए वेद और उपनिषद् में पुराणों की चर्चा की गई है।[१] परंपरया प्रसिद्ध किंवदंतियों का संकलन पुराणों में सदा होता रहा है।[२] शास्त्रों में जैसा उल्लेख हैं, उससे तो ज्ञात होता है कि सृष्टि के आदि में ब्रह्मा ने सौ करोड़ श्लोकों की पुराण गाथा स्मरण की थी और उसका मुनियों को उपदेश दिया था।[३] समय-समय पर इन गाथाओं में वृद्धि और ह्रास होता रहा है। मधुसूदन सरस्वती विश्व सृष्टि के इतिहास को पुराण कहते हैं तथा जीव गोस्वामी उस सृष्टि इतिहास को स्मरण दिलाने वाले संकलन को पुराण कहते हैं।[४] वास्तव में, सृष्टि के प्रथम के प्रकृति पुरुषात्मक तत्व का ही यह जगत् परिणाम है, इस रहस्य के ज्ञान की उपलब्धि में सदा जागरूक रखने वाले चरित्रों का संकलन ही पुराण है। पुराणज्ञान (आत्मज्ञान) विज्ञान [प्रकृतिविज्ञान] के शास्त्र हैं। वेदों के रहस्यमय विज्ञान को गाथाओं का रूप देकर पुराणों में स्पष्ट किया गया है।[५] पुराण गाथायें अनादिकाल से रही हैं और रहेंगी। इन गाथाओं में समय-समय की सामाजिक व्यवस्था तथा संस्कृति का चित्रण होता रहता है। कृष्ण द्वैपायन जी ने मुख्य रूप से वेद का विस्तार और उपनिषदों का उद्‌घाटन शिष्यों के साथ किया था, जो कि इस समय प्राप्त है। पुराण उनके समय भी थे और उनके शिष्यों द्वारा उनका संकलन भी होता रहा, पर इस समय जो उपलब्ध पुराणों का रूप है, वह बादरायण व्यास द्वारा दिया गया हैं। उनके बाद भी नैमिषारण्य क्षेत्र में एक हजार वर्ष तक ऋषियों

---

१. **ऋचः सामानि छंदांसि पुराणं यजुषा सह**
**उच्छिष्टाज्जज्ञिरे सर्वे दिबि देवा दिविश्रिताः।**

अथर्व (वेद), ११।७।२४

छांदोग्य—शतपथ ब्राह्मण, १३।४।३।१३। वृहदारण्यक०, २।४।११। इत्यादि में पुराण चर्चा है। स्वामी शंकराचार्य के मत से—"उर्वशी ह्राप्सराः" आदि ब्राह्मण भाग, इतिहास तथा "असद् व इदमग्रमासीत्" इत्यादि सृष्टि प्रक्रिया घटित वाक्य पुराण हैं। वृहदारण्यक भाष्य

२. पुरा परंपरावक्ति पुराणम् तेन वै स्मृतम्— वायु पुराण, १।२।५३।

३. न्याय दर्शन, ४।१।६२ के भाष्य में वात्स्यायन ऋषि ने, मन्त्र एवं ब्राह्मण भाग के दृष्टा तथा प्रवचन कर्त्ता ऋषियों को ही इतिहास पुराण और धर्मशास्त्र का प्रवक्ता माना है।

४. विश्व सृष्टेरितिहासः पुराणम्—पुराणोत्पत्तिं प्रसङ्ग। मधुसूदन सरस्वती पुरान यतीति पुराणम्—जीव गोस्वामी।

५. वेदेर निगूढ़ अर्थ वूझते ना जाय, पुराण वाक्य सेई अर्थ करये निश्चय— चैतन्य भागवत।

द्वारा उनका परिमार्जन होता रहा है। शौनिकादि ऋषियों ने इसे प्रार[illegible] किया था।[1] बादरायण जी ने प्राचीन गाथाओं को एकत्र किया इसलि[illegible] उन्हें संहिता कहा गया।[2] उन संहिताओं में तीन प्रकार की भाषा का प्रयो[illegible] किया गया है। समाधि भाषा, लौकिकी भाषा तथा परकीया भाषा[illegible] जिसको समाधि द्वारा तत्व विवेचन की दृष्टि से लिखा गया वह समा[illegible] भाषा है, वह केवल श्रीमद्भागवत है। जिन चरित्रों में रूपक और अलंका[illegible] का आश्रय लिया गया है वह लौकिकी भाषा है। जिसमें दृष्टांत दिया ग[illegible] है, वह परकीया भाषा है।[3]

भारतीयों की तत्व-चिंतन की शैली सदा आध्यात्मिक ही रही है[illegible] भारतीय कभी किसी वस्तु का नाश नहीं मानते, इसलिए इनकी दृष्टि[illegible] व्यासादि ऋषियों का अन्तर्ध्यान ही होता है, गीता के अनुसार वह दि[illegible] ऋषि नित्य मुक्त आत्मा है जो कि पुराने कपड़े की तरह स्थूल शरीर को छो[illegible] देते हैं, पर आवश्यकता के अनुसार वह दूसरे देह में प्रवेश कर शास्त्रों[illegible] रहस्य का उदघाटन करते हैं।[4] वे सदा भगवद् भाव को प्राप्त रहते[illegible]

---

१. **नैमिषेऽनिमिषक्षेत्रे ऋषयः शौनकादयः।**
**सत्रं स्वर्गाय लोकाय सहस्रसममासत।** भागवत, १।१।[illegible]

२. **आख्यानैश्चाप्युपाख्यानैर्गाथाभिर्कल्प शुद्धिभिः।**
**पुराण संहितां चक्रे भगवान् बादरायणः॥** पद्म पुराण

[आख्यान, उपाख्यान, गाथा, कल्पशुद्धि इन चारों का पुराण रूप[illegible] भगवान् बादरायण ने संग्रह किया]

अपने काल में दृष्ट इतिवृत्त को आख्यान, परोक्ष में घटित इतिवृत्त [illegible] उपाख्यान, परम्परा से श्रुत जिनके कर्त्ता का ज्ञान नहीं ऐसी किंवदंतियों को गा[illegible] तथा ऐतिहासिक विषय से सम्बद्ध, पौराणिक इतिहास विभाग में, अनु[illegible] धर्मशास्त्र आदि शास्त्रों से प्रतिपादित, ज्ञान एवं कर्त्तव्य विषयक वचन [illegible] कल्पशुद्धि कहते हैं—

३. **समाधि भाषा प्रथमा लौकिकीतितथापरा।**
**तृतीया परकीयेति शास्त्र भाषा त्रिधा स्मृता।**

गौतम आपस्तम्ब धर्म सूत्रों की रचना ई०पू० ५ वीं सदी की है, जिस[illegible] पद्मपुराण और भविष्य पुराण के उद्धरण दिए गए हैं। इससे स्पष्ट है[illegible] बादरायण और उनके शिष्यों की संहिता में ई०पू० ३ सदी में परिवर्त[illegible] हुआ।

४. सामान्य जीव को तो कर्मवश जन्म-मरण के चक्र के कारण माता[illegible] गर्भ में प्रवेश करना पड़ता है परन्तु नित्य मुक्त, भगवद् भाव को प्राप्त, महात्[illegible] स्वेच्छावश जगत् की कल्याण-कामना से स्थूल शरीर को धारण करते हैं।

इसलिए भगवान् के अवतार हैं। भगवान् व्यास भी ऐसे ही अवतार हैं जो कि प्रति द्वापर युग में प्राणियों की कल्याण की कामना से वेद का व्यास करते हैं तथा प्रत्येक कलियुग में प्राणियों की अल्प बुद्धि और अल्पायु को देखकर पुराणों का संग्रह करते हैं।[१] यहाँ स्पष्ट रूप से द्वापर युग के [कृष्ण द्वैपायन] व्यास तथा कलियुग के [बादरायण] व्यास इन दो रूपों का वेद व्यास और पुराण संग्रहीता के रूप में उल्लेख है। स्वामी शंकराचार्य जी भी देवताओं का ऐश्वर्य बल से इच्छानुसार रूप धारण करना मानते हैं, तथा व्यासादि को भी उसी कोटि में नित्य मुक्त सामर्थ्यवान मानते हैं।[२] भगवान् निंबार्काचार्य जी, मुक्तात्मा को भगवत्कृपा से सामर्थ्यवान तथा भगवत लीला का रसास्वादन करने के लिए स्वतः संकल्प से शरीर धारण करने वाले कहते हैं।[३]

इस रहस्यमय विचार शैली से स्पष्ट है कि व्यास, शरीर से भिन्न होते हुए भी एक हैं। इसी प्रकार पौराणिक ऋषियो की नित्यता का तात्पर्य भी समझ लेना चाहिए। नारदादि भी समय-समय पर शरीरी हुए हैं।

भगवान् बादरायण ने सर्वप्रथम वेदांत सूत्रों की रचना की, जो कि उपनिषद्-रहस्य के उपकारी हैं।[४] महाभारत में गीता का कुछ अंश भी बादरायण का है[५] और श्रीमद्भागवत उनकी सर्वोत्तम कृति है।[६] क्योंकि भागवत में बड़ी विद्वता के साथ दार्शनिकों के और धार्मिकों के पारस्परिक

---

१. द्वापरे द्वापरे विष्णुर्व्यास रूपेण सर्वदा।
वेदमेकं स बहुधा कुरुते हित काम्यया।
आल्पायुषोऽल्पबुर्दीश्चविप्राञ्ज्ञात्वा कलावथ।
पुराण संहितां पुण्यां कुरुतेऽसौ युगे युगे।
देवी भागवत, १।२।१९-२०।

२. अस्ति ह्रि ऐश्वर्य योगात् देवतानां ज्योतिराद्यात्मभिश्च अवस्थातुं यथेष्टं च तं तं विग्रहं ग्रहीतुं सामर्थ्यम्। तथा च व्यासादयो देवादिभिः प्रत्यक्षं व्यवहरंति। शांकर भाष्य १।३।२३

३. मुक्तस्य भगवल्लीला रस भोगोपपत्तेकदाचिद् भगवल्लीलानुसारिणा स्व संकल्पेनापि सृजति। निंबार्क भाष्य, ४।४।१४

४. वेदांतो नामोपनिषत्प्रमाण तदुपकारीणि शारीरिक सूत्रादीनि च वेदांतसार।

५. जिसने ब्रह्मसूत्रों की रचना की है, उसी ने मूल भारत और गीता को वर्त्तमान स्वरूप दिया है—गीता रहस्य, पृ० ५३५, लोकमान्य तिलक

६. वेदोपनिषदां साराज्जाता भागवती कथा।
अत्युत्तमा ततो भाति पृथग् भूता फलाकृतिः॥
पद्म पुराण, उत्तर खण्ड, २।६७।

मतभेद को मिटाने की चेष्टा की गई है, और इस कार्य में पूर्ण सफलता भी मिली है। भिन्न-भिन्न उपनिषदों में भिन्न भिन्न ऋषियों द्वारा अनुभूत, उपदिष्ट, अध्यात्म सिद्धांतों की नियमबद्ध विवचेना के लिए ही बादरायणाचार्य ने ब्रह्मसूत्र की रचना की।[१] इस प्रकार उपनिषदों के तात्पर्य का निश्चित रूप ब्रह्मसूत्रों में करने के बाद, उसके रहस्य की व्याख्या श्रीमद्भावत में की है, जो कि उस तात्पर्य का निश्चित उत्तम रूप है। गीता के कुछ अंश और ब्रह्मसूत्र की रचना प्रायः एक काल में हुई है, क्योंकि गीता में स्पष्ट रूप से ब्रह्मसूत्र की रचना का प्रयोजन कहा गया तथा ब्रह्मसूत्र के कई सूत्रों में स्मर्यते, स्मरंति च आदि कह कर गीता को तत्व का समर्थक कहा गया है। भागवत का ११वाँ स्कन्ध गीता का वृहद व्याख्यान है तथा भागवत में महाभारत और ब्रह्मसूत्र की रचना का उल्लेख भी है।[२] गीता में भागवत तत्व का विवेचन करने के बाद भी शांति न मिलने पर भागवत में उसको विस्तृत रूप से वर्णन किया गया है। गीता और ब्रह्मसूत्र की रचना के बाद भी बादरायण जी को ऐसा प्रतीत हो रहा है कि वह अभी अकृतार्थ ही है क्योंकि महात्मा बुद्ध द्वारा वैदिक कर्मकांड के विरुद्ध जो शांतिमय सरल मार्ग

---

१. **ऋषिभिर्बहुआ गीतं छंदोभिर्विविधैः पृथक्।**
**ब्रह्मसूत्र पदैश्चैव हेतुमद्भिर्विनिश्चितैः ।।** गीता, १३।४

प्रायः सभी आधुनिक शोध कर्त्ताओं के मत में ब्रह्म सूत्रों की रचना ई० पू० ४ सदी ही निर्धारित की गई है।

**जोवेष्वर ब्रह्म भेदो निरस्तः सूत्र निर्णये,**
**निरूपितं परं ब्रह्म श्रुतियुक्त विचारकः।** वायुपुराण, ४।१०४।२२।।

जीव- ईश्वर, ब्रह्म का भेद ब्रह्मसूत्र के निर्णय में श्रुति के तत्व विचारक वादरायणाचार्य ने निरूपित कर परब्रह्म का स्वरूप स्थापन किया है।

२. भागवत १ स्कंध ५ अध्याय श्लोक ३ और ४ में नारद जी ने व्यास जी से कहा :—

**जिज्ञासितं सुसंपन्नमपि च ते महदद्भुतम्।**
**कृतवान् भारतं यस्त्वं सर्वार्थ परिवृंहितम् ।।**
**जिज्ञासितमधीतं च यत्तद्ब्रह्म सनातनम्।**
**अथापि शोचस्यात्मानतकृतार्थ इव प्रभो ।।**

[व्यास जी ! आपने जिज्ञासित ब्रह्म तत्त्व का जो अद्भुत रहस्य महाभारत में किया था, उसे अपने ''अथातोब्रह्म जिज्ञासा के रूप में विचारा और गीता के विराट रूप तथा विभूति रूप से समझ भी लिया है, फिर भी आप अकृतार्थ से ही दीखते हैं।]

प्रदर्शित किया गया था वह इतना प्रभावशाली था कि जैमिनि[१] द्वारा मीमांसाशास्त्र का नियम बद्ध विवेचन होने के बाद भी उसमें कोई अन्तर न आ सका। पुनः कर्मकाण्ड की स्थापना को जन समाज ने स्वीकार नहीं किया। जनता तो बुद्ध के शांतिमय, कर्म की विधियों से रहित, सरल मार्ग में अभ्यस्त ही थी और भिक्षु रूप की महत्ता मानने लगी थी। कर्म की विधि लुप्त प्राय थी। कपिल के सांख्य मत का अनीश्वरवादी सिद्धांत जो कि बुद्ध के सदियों पूर्व स्थापित हुआ था, उसका भी व्यापक प्रभाव सभी अर्द्ध आनीश्वरवादी और अनीश्वरवादी दर्शनों पर पड़ा था। जैन, बौद्ध भी उससे प्रभावित थे। सभी समवेतस्वर से ईश्वर की सत्ता को अस्वीकार कर रहे थे। अणु से ही सृष्टि का विकास मानते थे तथा आत्मशुद्धि को ही मोक्ष कहते थे। ईश्वर तत्त्व को पुनः प्रकाशित करने का उपाय, महर्षि पतंजलि ने अपने योगदर्शन में किया। साधना के साथ ईश्वर प्रणिधान को भी विशेष महत्व प्रदान किया। योगदर्शन की साधना ने बौद्धों की साधना को और प्रकृष्ट बनाया, परन्तु ईश्वर प्रणिधान फिर भी न हो सका। बादरायण जी ने भी उस पर अपना भाष्य लिखकर पतंजलि[२] के कार्य में सहयोग दिया।

ब्रह्म सूत्र की रचना द्वारा ब्रह्मवाद की स्थापना करने का प्रयास किया गया। वैदिक काल की बहुदेवोपासना की ओर लोगों की अनास्था हो रही थी, उसे ब्रह्मसूत्र द्वारा बहुत कुछ दूर कर दिया गया। एक अखंड अद्वय ब्रह्म की स्थापना कर एकेश्वरवाद का प्रचार किया गया।[१] सभी मतों के

---

१. जैमिनि वादरायणाचार्य के शिष्य थे। इन्होंने अपने ग्रंथ के प्रारंभ में ही "श्रीमद्व्यास पयोनिधिर्निधिरसौ" कहकर अपने ग्रंथ को व्यास के ज्ञान समुद्र की निधि वतलाया है। व्यास जी ने अपने प्रथम शिष्य जैमिनि द्वारा वैदिक धर्म की स्थापना की चेष्टा की थी पर उससे उन्हें उतनी सफलता न मिल सकी, क्योंकि जनता वैदिक कर्मकांड की हिंसात्मक प्रवृत्ति से पूर्ण रूप से ऊव चुकी थी।

२. पतंजलि का योगदर्शन ई०पू० ४ सदी में वना ऐसा सभी ऐतिहासकों का प्रायः एकमत है। योगदर्शन के प्रणेता पतंजलि—पाणिनि व्याकरण महाभाष्यकार पतंजलि से भिन्न हैं। भाष्यकार पतंजलि तो ई०पू० १८४ में व्राह्मण शासक पुण्यमित्र शुंग के पुरोहित थे जैसा कि महाभाष्य के प्रसंगों से ही सिद्ध हो चुका है।

योगसूत्र ३।५२ में बुद्ध के क्षणवाद (जो कि बाद में सौतांत्रिक कहलाया) का खंडन तथा सूत्र ४।१५-१७ तक विज्ञानवाद का खंडन है।

३. अशोक ने लिखा है "आमिसा देवा मिसा कटा" (अमिश्राः देवाः मिश्राः कृताः) अनेक देवता एक कर दिये गये।

विरुद्धांशों का निराकरण और उनका वेदांत में ही समन्वय ये दो मुख्य ब्रह्म सूत्र के प्रयोजन थे। वह समन्वय का युग था, बौद्ध को भी ईश्वर का अवतार बनाकर अपने में प्रेम पूर्वक मिलाकर ब्राह्मण और बौद्धमत की विरुद्धता बड़ी कुशलता से समाप्त कर दी गई।[1]

### भागवत धर्म

ब्रह्मसूत्र से ब्रह्मवाद तो सिद्ध हो चुका था, पर ब्रह्म के मूर्त्त रूप की आवश्यकता थी, उसे श्रीमद्भागवत ने पूर्ण कर दी। भागवत ब्रह्म की वाङ्मयी मूर्ति कही गई। उसकी सेवा, श्रवण, पाठ और दर्शन का विपुल माहात्म्य हुआ।[2] भागवत धर्म का जन समाज पर बड़ा व्यापक प्रभाव पड़ा। शनैः शनैः बुद्ध धर्म इसमें समाता चला गया। भक्ति का मार्ग ही ऐसा राजमार्ग था जिस पर सबको समान रूप से चलने का पूर्ण अधिकार था। उसकी विशालता और स्वच्छता से आकृष्ट होकर अपनी-अपनी मान्यताओं को साथ में रखते हुए सभी उस मार्ग के पथिक हो चले। वही एकमात्र अनर्थों का उपशमन करने वाला उज्जवल पथ था, जिस पर अज्ञानी भी सुलभतापूर्वक भ्रमण कर सका।[3] भागवत धर्म की विशेषता नर का आधार अयन, नारायण की उपासना थी। जहाँ बौद्ध आदि, नर को आत्मचिन्तन की सलाह दे रहे थे, वहाँ भागवत धर्म उन्हें उसके साथी नारायण को भी उसका सखा और रक्षक बतला रहा था। यही उनका नारायणीय धर्म था।[4] नर और नारायण के अवतार अर्जुन और कृष्ण थे।

---

१. यह घटना ई०पू० ४ शताब्दी की है, जिस समय नंदिवर्द्धन का राज्य काल था। समन्वय का यह आंदोलन लगभग सौ वर्षों तक बराबर चलता रहा। ३२२ ई०पू० चाणक्य ने भी इस कार्य में सहयोग किया तथा २७० ई० पू० में अशोक पूर्ण समन्वय वादी सम्राट था, उसने भारत के विभिन्न चार स्थानों (प्रयाग, हरिद्वार, उज्जैन, नासिक) में १२ वर्षीय सर्व संप्रदायों के सौहार्द्र पूर्ण सम्मेलन को अधिक प्रोत्साहन देकर वृद्धि की। उन उत्सवों में वह बौद्ध भिक्षु और वैष्णव आचार्य दोनों का समान रूप से समादर करता था।

२. **तेनेयं वाङ्मयी मूर्त्तिः प्रत्यक्षा वर्त्ततेहरेः।**
**सेवानाच्छ्रवणात्पाठाद् दर्शनात्पापनाशिनी ॥**
पद्म पुराण, उत्तर खण्ड, ३।६२।

३. **अनर्थोपशमं साक्षात् भक्तियोगमधोक्षजे।**
**लोकस्याजानतो विद्वांश्चक्रे साभत्वत् संहिताम्।**
भा० प्र० स्कं०, ७ अ०, ६ श्लो०

४. महाभारत शांति पर्व में नारायणीय धर्म का उल्लेख है [ ३३४ और ३५१ अध्याय]

नारायण कृष्ण ही नर के पथ प्रदर्शक थे ।[1] इस मत को प्रायः अनेक स्थलों पर सात्वत धर्म कहा गया है और उसका तात्पर्य सात्वत क्षत्रिय जाति से कहा जाता है । परन्तु ऐसा सिद्ध नहीं होता । भगवान् श्री कृष्ण को परब्रह्म स्वीकार किया गया है, क्षत्रिय नहीं । इस धर्म का प्रवर्त्तन कृष्ण के हंसावतार द्वारा हुआ है ।[2] यह सत्व (अंतःकरण) का आत्मीय धर्म है । इसका उदय मानस हंस के उपदेश के रूप में अंतःकरण चतुष्टय (मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार) में ही हुआ । मन प्रधान तत्व है अतः उसने इसे दृढ़ रूप से ग्रहण कर अहं तत्व को उद्बुद्ध किया । अहं तत्व का उद्बोधन ही भक्ति का उदय है । यही भागवत धर्म की चतुर्व्यूह उपासना है, जिसके प्रतीक वासुदेव (हंस) संकर्षण (जीव) प्रद्युम्न (मन) और अनिरुद्ध (अहंकार) हैं । सनातन, सनक, सनंदन और सनत्कुमार भी मानस पुत्र कहे गये हैं, ये अंतःकरण चतुष्टय के प्रतीक हैं । हंस द्वारा इन्हें तत्त्व का उपदेश प्राप्त हुआ, वही उपदेश मन के प्रतीक नारद द्वारा संसार में व्याप्त हुआ । नारद ने ही सात्वत धर्म को अपने ग्रंथ में प्रकट किया वही नारद पाँचरात्र है ।[3] असंतुष्ट मानस बादरायण व्यास को मन के प्रतीक नारद ने ही प्रबोध

---

१. गीता में, कृष्ण का अर्जुन को दिया गया उपदेश भागवत धर्म का प्रकाश दीप है । कृष्ण सात्वत क्षत्रिय कुल के थे अतः उनके उपदेश के आधार पर इस मत की स्थापना हुई । इसी सात्वत मत की संहिता (संग्रह) भागवत है । सात्वत का तात्पर्य क्षत्रिय जाति से रहा पर कृष्ण को तो वासुदेव रूप से ब्रह्म ही कहा गया । महर्षि पतंजलि महाभाष्य में "संज्ञैषा तत्र भगवतः" कहते हैं । तथा वैय्याकरण कैयट ४।३।९८। पाणिनि सूत्र "वासुदेवार्जुनाभ्यां वुन्" का अर्थ "नित्यः परमात्म देवता विशेष इह वासुदेवो गृह्यते" (वासुदेव का अर्थ नित्य परमात्मा ब्रह्म से है) करते हैं । पाणिनि का भी वही काल है जो भागवत धर्म के उदय का काल है । उन्होंने वासुदेव के उपासक को वासुदेवक सिद्ध किया है ।

२. भागवत, २।७।१९ में देखें तथा—

**सत्वाद् धर्मो भवेद् वृद्धात् पुंसोमद् भक्तिलक्षणः ।**
**सात्विकोपासया सत्त्वं ततोधर्मः प्रवर्त्तते ।**

भागवत, ११।१३।२।, हंसोपाख्यान

[जीवात्मा की शुद्धि से भक्ति प्राप्त होती है वही सात्विकी (सात्वत) उपासना है । सत्वगुण से ही जीवात्मा की शुद्धि होती है, उसी से धर्म का प्रवर्त्तन होता है]

३. भागवत १३ का ११ अध्याय संपूर्ण दृष्टव्य [सत्व का अर्थ आत्मा किया गया है]

दिया।[१] व्यास समाहित चित्त होकर समाधि द्वारा अंतःकरण में ही तत्त्व का प्रकाश पा सके।

## हंस सनकादि नारद

इस विवेचन से स्पष्ट हो जाता है कि सात्वत धर्म, हंस द्वारा प्रवर्त्तित मार्ग है, जिसे सनकादि और नारद ने सारे विश्व में प्रकाशित किया। भागवत पुराण में सारे मत मतांतरों को बड़ी कुशलता के साथ भक्ति रस की चीनी से पागा गया है। सब पर भक्ति की चाशनी चढ़ गई है। सर्व प्राचीन सांख्य मत जो कि निरीश्वर वादी था, उसे योग से मिलाकर कपिल द्वारा ही सेश्वर सांख्य का उपदेश दिलाया गया। न्याय वैशेषिक के अणुकारण वाद को भी उसी में संयुक्त कर ईश्वर को परमाणु रूप से बतलाया गया। भवाटवी और ऋषभ के चरित्र द्वारा जैन धर्म को वैष्णवी रूप देकर जैनों के केशलुञ्चनादि संस्कारों को ढोंग बतलाया तथा ऐलोपाख्यान में भिक्षु द्वारा बौद्ध धर्म की आत्मनिष्ठा की प्रशंसा कर भक्ति में डुबो दिया गया। प्रबलतम व्यापक, लोकायत (चार्वाक) मत के प्रचारक हिरण्याक्ष, हिरण्यकश्यप, रावण, कुंभकर्ण, शिशुपाल, दंतवक्र आदि का दमन ईश्वर द्वारा ही कराया। विशेषकर वेन जो कि पूर्ण रूप से नास्तिक, साक्षात् लोकायत मत का प्रतीक था, उसको ब्राह्मणों द्वारा ही नष्ट करा कर उसी में से पृथु (ईश्वर) को प्रकट किया गया है। कपिल, ऋषभ, बुद्ध, पृथु को ईश्वर का अवतार रूप देकर उन्हें पूज्य बनाया और भागवत धर्म में उनका समन्वय कर लिया। इस प्रकार सम्पूर्ण भागवत समन्वय ग्रंथ के रूप में प्रकाशित हुई है। हम इस भागवत में आदि से अन्त तक सनकादि ऋषियों और नारद को ही देखते हैं। सनकादि के शाप वश जय-विजय पार्षदों को

---

१. भागवत द्वितीय स्कंध ७वें अध्याय के ४७-४८-४९-५० श्लोक में भागवत तत्त्व का उपदेश दिया गया है।

बौद्ध धर्म ने वैदिक कर्मकांड का निराकरण किया, जिसके फलस्वरूप जन समाज कर्मों से विमुख होकर भिक्षु होकर जंगल में रहकर आत्म चिन्तन को उत्तम मानने लगा। भागवत धर्म ने इसको खंडन न कर, उसके तुल्य नैष्कर्म्य (अनासक्त भाव से कर्म का आचरण) भक्ति मार्ग को प्रशस्त किया। जो व्यापक फैलती हुई अकर्मण्यता थी उसका प्रवाह रुक गया। अनासक्त कर्म की ओर प्रवृत्ति हुई। गीता, भागवत और ब्रह्मसूत्र ने कर्म वासना से त्रस्त जन समूह को भिक्षु होने से बचाया। ब्रह्मवाद की स्थापना कर सांसारिक वासना को ब्रह्म की वासना में परिवर्तन करने की सलाह दी। वासुदेव को वासना की मूर्त्ति बनाकर जीव को उसमें प्रवृत्त करने की चेष्टा की।

तीन जन्मों तक आसुरी सम्पत्ति युक्त देखते हैं, जिसका उद्धार भक्ति रस आपूरित भागवतों के ब्रह्म द्वारा ही होता है । वासना, वासुदेव के रूप में सारूपा मुक्ति पा जाती है । जय-विजय द्वेषात्मक वासना के प्रतीक हैं तो प्रह्लाद, अन्तःकरण चतुष्टय के प्रतीक सनकादि ऋषि के समष्टि रूप हैं जो कि रागात्मक वासना है। प्रह्लाद को उपदेश भी नारद (मन) द्वारा अन्तःकरण (गर्भ) में ही प्राप्त हो जाता है। प्रह्लाद की रागात्मिका वासना ही भक्ति है । भागवत का उपदेश नारद द्वारा ही प्राप्त होता है (भा० १।४) युधिष्ठिर के शोक का निवारण और उन्हें ज्ञान कर्म समन्वित भक्ति का उपदेश (भा० १।८ तथा भा० ७) ध्रुव को भागवत मन्त्र की दीक्षा (भा० ४।८) प्रचेताओं को उपदेश (भा० ४।३१) चित्रकेतु को उपदेश (भा० ६।१५) वसुदेव को उपदेश (भा० ११।२) आदि में नारद ने ही भक्ति रहस्य का उद् घाटन किया है । इसी प्रकार महाराज पृथु आदि को उपदेश देते हुए सनकादि ऋषि के दर्शन होते हैं (भा० ४।२२) भागवत तत्त्व का रहस्यात्मक उपदेश इन महर्षियों से ही प्रकाशित हुआ है ।

### भागवत धर्म के आदि आचार्य

नारद भक्ति सूत्र, ८३ से हमें ज्ञात होता है कि भागवत सम्प्रदाय के कुमार, व्यास, शुक, शांडिल्य, गर्ग, विष्णु, कौंडिन्य, शेष, उद्धव, आरुणि, बलि, हनुमान, विभीषण आदि आचार्य थे ।[1] नारद स्वयं भक्ति रहस्य के व्याख्याता थे ही ।[2] इन आचार्यों में से, उद्धव, बलि, हनुमान और विभीषण ये पाँच पौराणिक भक्ति कोटि के हैं । कुमार, व्यास, शुक और नारद नित्य मुक्त, सदा आलोक रूप से भक्ति का समय-समय पर उपदेश देते रहते हैं । शांडिल्य, गर्ग, विष्णु, कौंडिन्य और आरुणि ये पाँच भागवत धर्म के प्रवर्त्तक प्रत्यक्ष आचार्य थे जिन्होंने आसेतु हिमाचल भारत को भक्ति रस में मग्न किया था ।[3]

---

१. इत्येवं वदंति जन जल्प निर्भया एकमता, कुमार व्यास शुक शांडिल्य गर्ग विष्णु कौंडिन्यशेषोद्धवारुणि वलिहनुमद्विभीषणादयो भक्त्याचार्या ।

२. अथातो भक्तिं व्याख्यास्यामः ।१।

३. नारद भक्ति सूत्र, नारद तो शुद्ध मन के प्रतीक मात्र हैं, केवल भक्तों पर कृपा करने के लिए आलोक देह (सूक्ष्म सिद्ध देह) से दर्शन देते हैं। शुद्ध मन अखिल तत्त्व का साक्षी है, वह नारद ही है। "श्री नारदायाखिल तत्व साक्षिणे" (दशश्लोकी) ऐसा आचार्य निंवार्क ने ही कहा है। अन्तःकरण चतुष्टय के प्रतीक सनकादि भी जीवात्मा के साक्षी मात्र हैं। इसलिए श्री निंवार्क के परमाचार्य हैं। ब्रह्मसूत्र १।३।८ में "परमाचार्यः श्री सनत्कुमारैरस्मद्गुरवे श्रीमन्नारदायोपदिष्ट।"

१—शांडिल्य जी ने भी एक भक्ति सूत्र की रचना की है, जो कि ब्रह्मसूत्र की शैली पर संपादित की गई है। उसका प्रथम सूत्र "अथातो ब्रह्म जिज्ञासा" है। यह रचना नारद भक्ति सूत्र के समकालीन होते हुए भी उसके बाद की है। उसमें २।१।४५ सूत्र "द्वेषादयस्तु नैवम्" में नारद भक्ति सूत्र ६५ "कामक्रोधादिकं तस्मिन्नेव करणीयम्" का निराकरण किया गया है। नारदीय सूत्र भागवत के अधिक निकट है, शांडिल्यसूत्र ब्रह्मसूत्र से अधिक संबद्ध है। नारदीय सूत्रों में व्यास, गर्ग, शांडिल्य के मत तथा शांडिल्य सूत्रों में कश्यप, बादरायण, जैमिनि आदि के मत नाम देकर उल्लेख किये गये हैं। शांडिल्य ने "गौण्या तु समाधिसिद्धिः" में पातंजल योगदर्शन की गौणता सिद्ध की है। दोनों सूत्रों में "एके" इत्यादि का प्रयोग कर अन्य आचार्यों के मत भी कहे गये है। शांडिल्य बादरायणाचार्य के शिष्य हैं। स्कंद पुराणीय भागवत माहात्म्य शांडिल्य द्वारा ही कहलाया गया है। पद्मपुराणीय भागवत माहात्म्य सनकादि ऋषियों द्वारा नारद को प्राप्त हुआ है। दोनों में पद्मपुराणीय महात्म्य ही प्रसिद्ध और सर्वमान्य है। नारदीय सूत्रों और पद्मपुराणीय भागवत महात्म्य में भक्ति रस का अजस्र प्रवाह है। वह प्रवाह शांडिल्य सूत्रों और स्कंद माहात्म्य में नहीं है। इनमें तर्क और बुद्धि की प्रखरता दिखलाई गई है।

२—गर्गाचार्य कथा कहने वाले व्यास के रूप से ही प्रसिद्ध हैं। इनके नाम से कृष्ण लीला का प्रधान ग्रंथ गर्ग संहिता प्रसिद्ध है। इसमें भाषा का लालित्य अधिक है, इसे संस्कृत का सरस काव्य कह सकते हैं। गर्ग को भी बादरायण का शिष्य कहते हैं। गर्ग संहिता की कथाओं में पद्मपुराण और ब्रह्मवैवर्त्त की कृष्ण लीला का अधिक प्रभाव है। इसकी प्रामाणिकता के विषय में संशय किया जाता है, पर ऐसा समझ में नहीं आता। हो सकता है अन्य पुराणों के समान इसमें भी कुछ प्रवेश हुआ हो। पुराण संहिताओं में हमें प्रक्षेपांशों का अन्वेषण नहीं करना चाहिये क्योंकि ये तो विभिन्न काल के कथाकारों के संग्रह हैं ही।

३—विष्णु स्वामी परमभक्त आचार्य हैं, इन्होंने रुद्रों को वैष्णव बनाने का सफल कार्य किया है। इन्हें वेदांत के शुद्धाद्वैत का प्रवर्त्तक आचार्य कहा जाता है पर इनका कोई वेदांत भाष्य नहीं मिलता। संभवतः इन्होंने भाष्य

---

१. निंबार्काचार्य जी छांदोग्योपनिषद् में सनकादि द्वारा कही गई भूमा विद्या का उल्लेख करते हुए नारद को अपना गुरु स्वीकार करते हैं। हंस सनकादि नारद द्वारा प्रवर्त्तित भक्ति मार्ग का प्रतिनिधित्व आरुणि जी ने किया है।

किया भी नहीं। वल्लभाचार्य ने ही इस मत का भाष्य किया है। इन्होंने उपासना में बैधी अर्चा का सुन्दर विधान किया था।

४—कौंडिन्य के विषय में अधिक कुछ ज्ञान नहीं है। इन्हें बादरायण जी का शिष्य माना जाता है। इनकी कोई रचना नहीं मिलती। ये गोपी भाव में सदा मग्न रहते थे, ऐसा स्वामी वल्लभाचार्य जी लिखते हैं—"कौंडिन्यो गोपिका: प्रोक्तागुरव:"। नारदीय सूत्र के अनुसार ये तन्मयाशक्ति कोटि के तन्मय भक्त थे। श्री निंबार्क द्वारा अनुमोदित प्रेमाभक्ति के मूर्त्तिमान रूप थे।

**श्री निंबार्काचार्य**

५—आरुणि का चरित्र प्रसिद्ध है, पर इनके काल का निर्णय आज तक निश्चित रूप से नहीं हो पाया है। आज से पचास वर्ष पूर्व तक प्राय: ऐसा अधिक लोग कहते थे कि ये श्री कृष्ण के काल में द्वापर में हुए थे। आज भी निष्ठावान वैष्णवों की पक्षपात रहित ऐसी धारणा हैं। इधर बढ़ती हुई अहं अहमिका के फलस्वरूप जो संप्रदाय की शाखायें हैं, उन्होंने अपनी सत्ता को एकदम भिन्न स्थापित करने के लिए इस प्रकार की धारणा "फैलानी प्रारम्भ की कि "इनका मत चारों वैष्णव संप्रदायों में एकदम अंत का है। ये रामानुज के मत से प्रभावित थे, इन्होंने रुक्मणी रमण की उपासना स्वीकार की थी। इनके नाम से दशश्लोकी की रचना, गोस्वामी हितहरिवंश जी के बाद हरिव्यास जी द्वारा की गई। उस पर हरि व्यास जी के शिष्य पुरुषोत्तमाचार्य जी ने भाष्य लिखा। प्रेमाभक्ति का प्रवाह पूर्वीय और पश्चिमी प्रदेशों से उठा और वृन्दावन में आकर एक रस होकर प्रवाहित हुआ। श्री राधा को उपास्य के रूप में स्थापित करने वाले प्रधान आचार्य पन्द्रहवीं, सोलहवीं, शताब्दी में ही हुए।" आदि अनेक भ्रांतियाँ हैं, उनको प्रमाण कोटि में लब्ध प्रतिष्ठ साहित्याचार्य भी अपने ग्रंथों में उद्धृत करते हैं। जिन लोगों ने परम्परा से प्रसिद्ध धारणाओं के अनुसार कुछ और ही लिख रक्खा था, वे भी अपने नवीन संस्कणों में बदल गये।[१] इस परिवर्तन में शस्त्रशास्त्र का बड़ा भय समाया हुआ है। हमारे एक अंतरंग साहित्यिक

---

१. देखें— हिन्दी ग्रंथ रत्नाकर, कार्यालय, बम्वई से प्रकाशित, पं० हजारीप्रसाद द्विवेदी की "हिन्दी साहित्य की भूमिका" का सन् १९४० का संस्करण, पृष्ठ ५४ पर "सनकादि संप्रदाय" का विवरण।

ऐसे अनेक स्थल हैं उनका विस्तृत विवेचन इस स्थल पर अभिधेय नहीं है, अत: केवल एक का ही उदाहरण रूप से उल्लेख कर दिया गया है।

मित्र ने भी कुछ ऐसा ही लिखा था, उनके पास भी एक शाखा के आचार्य का लम्बा पत्र आया। उसमें विशेष उल्लेखनीय वाक्य है—"महाशय ! आपने जो कुछ लिखा है, उसे हम लोग शस्त्रशास्त्र से सिद्ध कर चुके हैं, फिर पुनः ऐसा दुःसाहस क्यों ?"

प्रासंगिक रूप से इस विषय की चर्चा हम इसलिए आवश्यक समझते हैं कि अन्वेषकों ने जो भ्रांत धारणा बना रक्खी है, उसे दूर करने की चेष्टा करें तथा इन शाखाओं की प्रवृत्ति से परिचित हों। इस प्रकार के शताब्दियों के अनेक झगड़ों का व्यौरा यदि इस पुस्तक में देने लगें तो इसका भक्तिमय वास्तविक उद्देश्य ही मिट्टी में मिल जावे।[१]

अब निर्णय इस बात का रखना है कि प्राचीन और नवीन धारणाओं में समीचीन कौन सी है ? डॉ० भंडारकर आदि भी नवीन धारणा के कुछ समीप की ही बात करते हैं। नवीन धारणा के लेखकों में से किसी ने भी अपनी बात की पुष्टि के लिए श्री निंबार्काचार्य जी की रचनाओं का सहारा नहीं लिया है, जिन्होंने लिया भी है, वे उन स्थलों को छोड़ गए हैं, जो उल्लेखनीय है। इसलिए नवीन धारणा को ही प्रामाणिक स्वीकार कर लिया जावे। यह सम्भव नहीं है। प्राचीन धारणा की द्वापर में जन्मवाली बात भी कंठ से नीचे नहीं उतारी जा सकती। जबकि ब्रह्मसूत्रकार बादरायण को ही द्वापर में स्वीकार करना कठिन है तो फिर उसके भाष्यकार को कैसे द्वापर में मान सकते हैं ? यह बात तो वैसी ही प्रामाणिक है जैसे कि पौराणिक कथाओं की अनंतता। कुछ पाश्चात्य लेखकों ने तो कृष्ण के दो अवतार तक की कल्पना कर ली है। एक गीता के कृष्ण और दूसरे भागवत के कृष्ण।[२] पर वास्तविकता कुछ और ही है, यह तो उन कृष्ण[३] की लीला है, जिसके लिए उपनिषद् 'कविर्मनीषी शंभू स्वयंभू" कहते

---

१. आज भी वृन्दावन के प्रसिद्ध महात्मा स्वामी हरिदास जी (सङ्गीताचार्य) के परम्परा से सिद्ध मत को परिवर्त्तित करने की प्रवल चेष्टा की जा रही है। किसी अंश तक उस प्रवाह ने अपना अस्तित्व भी स्थापित कर लिया है। आज के समालोचक उसे प्रामाणिक मानने लगे हैं।

इस प्रकार के प्रयासों ने ही हिन्दी साहित्य के इतिहास में झमेला डाल दिया है, जिसके फलस्वरूप कोई कुछ और कोई कुछ लिख रहा है।

२. आधुनिक थियॉसाफिस्ट (ब्रह्मविद्यावादियों) की भी ऐसी ही मान्यता है।

३. "कृष्णः कृतवान् संहितां मुनिः"

भा०, १।४।३ [कृष्ण मुनि व्यास ने संहिता की]

हैं। कृष्ण दो नहीं हुए हैं, कृष्ण एक ही हैं। उनकी वाङ्मयी भागवतमूर्त्ति अवश्य ही कृष्ण के बहुत समय बाद प्रकटी है, वह भी मुनियों के हृदय में भक्ति योग के विधान के लिए।[1] महामुनि श्री निंबार्क भी वाङ्मयी वासुदेव की भागवत मूर्ति के काल में हुए थे। वह कृष्ण की परिचर्या की स्थापना का युग था। वासुदेव की प्रतीकोपासना प्रबलता से प्रचार की जा रही थी। इसलिए "द्वापरे परिचर्यायां" के अनुसार वह कलियुग में संचरित होने वाला द्वापर युग था। आरुणि के द्वापर और कृष्णकालीन होने का यही रहस्य है।[2]

दक्षिण देश में गोदावरी के तट पर वैदूर्य पत्तन के निकट पंडरपुर में अरुण मुनि की पत्नी जयंती देवी के गर्भ से कार्तिकी पूर्णिमा को सायंकाल गोधूलि वेला में इनका जन्म हुआ था। अरुण जी के पुत्र होने के कारण इन्हें आरुणि कहा जाता है। डॉ० भंडारकर आदि के मत से इनका जन्म हैदराबाद के निकटवर्त्ती बेलारी गाँव में कहा जाता है। इस मत का आधार बेलारी का निंबकर तीर्थ है जो कि निम्बार्क का विकृत रूप हो सकता है। उस तीर्थ के पुरोहित अपने नाम के आगे निंबकर लगाते हैं। जो कुछ भी हो इनका बाल्यकाल का नाम निंबार्क नहीं है। यह नाम तो इनके विशेष अलौकिक चरित्र के कारण बाद में प्रसिद्ध हुआ। इनका नाम तो नियमानंद था। अतिसुन्दर होने के कारण इन्हें लोग सुदर्शन भी कहा करते थे (शोभनः दर्शनः यस्य स सुदर्शनः) जैसा कि ब्रह्मसूत्र के आदिम सूत्र से ज्ञात होता है। ये वेद, वेदांग के प्रकांड पंडित थे। उपनयन संस्कार के समय स्वयं देवर्षि नारद ने शरीरी होकर इन्हें गायत्री एवं अष्टादशाक्षर ब्रह्म विद्या तथा भक्ति सूत्र का उपदेश किया था, ऐसी प्रसिद्धि है। नारद जी के अतिरिक्त किसी अन्य का गुरु होना अभी तक सिद्ध नहीं हो सका है। अपने ब्रह्मसूत्र भाष्य १।३।८ में ये श्रद्धापूर्वक श्री नारद को ही गुरु रूप में स्मरण करते हैं। नारद भी इतिहास प्रसिद्ध वही हैं, जिन्होंने छांदोग्योपनिषद् के अनुसार सनकादि से भूमा विद्या के रूप में अष्टादशाक्षरी ब्रह्मविद्या का रहस्यात्मक उपदेश प्राप्त किया था।

---

१. तथा परमहंसानां मुनीनाममलात्मनां, भक्तियोग विधानार्थ
भा०, १।८।२०।

२. उस समय वौद्ध भिक्षु मुनि रूप से प्रसिद्ध थे उन्हीं को भक्ति योग में लगाने के लिए कृष्ण की वाङ्मयी भागवत और कृष्ण वर्ण वाले बादरायण तथा निंबार्काचार्य का अवतार हुआ था।

## वेदांत पारिजात सौरभ

जैसा कि ऊपर दिखला चुके कि बुद्ध के अनीश्वरवादी मत से संपूर्ण भारतवर्ष प्रभावित हो चुका था। लगभग तीन शताब्दी तक इसकी प्रबलता रही। प्राय: लोगों का ब्रह्म पर से विश्वास उठ चुका था, तब पुराणों के अनुसार स्वयं भगवान् ने बादरायण व्यास के रूप से प्रकट होकर ब्रह्मसूत्र की रचना कर ब्रह्मवाद की स्थापना करने का प्रयास किया। आरुणि भी उसी काल के आचार्य हैं। इन्होंने बदरीवन में बादरायण के निकट ही ब्रह्मसूत्र का वाक्यार्थ किया था।[१] अभिधा शक्ति के आधार पर ही सूत्रों का अर्थ किया है,[२] लक्ष्यार्थ या व्यंग्यार्थ नहीं। साक्षात् शब्द के संकेतिक अर्थ को ही अपने वाक्यार्थ में प्रस्तुत किया है। आचार्य जी ने अपने वाक्यार्थ को वेदांत पारिजात सौरभ नाम दिया है। एक-एक विषयों का प्रतिपादन ब्रह्मसूत्र में एक या एक से अधिक सूत्रों में किया गया है। उसको अधिकरण नाम दिया गया है।[३] आचार्य ने ब्रह्मसूत्र के अर्थ से जीव, जगत्, माया का ब्रह्म के साथ द्वैताद्वैत मत स्थापित किया है। अपने इस मत की स्थापना में उन्होंने उपनिषद् वाक्यों की संगति दी है। उपनिषदों में द्वैत और अद्वैत उभयविध वाक्य समान रूप से मिलते हैं, इसलिए आचार्य जी का अर्थ ही अधिक समीचीन प्रतीतहोता है। ब्रह्म सूत्रकार बादरायण जी भी अपने मत को द्वैताद्वैत रूप में ही स्थापित करते हैं। सूत्रकार ने अपने मत की पुष्टि में जिन प्राग्वर्त्ती वेदांताचार्यों का नामोल्लेख किया है, वे भी द्वैताद्वैतवादी ही थे, ऐसा आज तक के सभी वेदांतियों का एक मत है।

---

१. स्वयं आचार्य अपने लेख में वाक्यार्थ ही लिखते हैं। विचार करने पर वह वाक्यार्थ ही है, भाष्य नहीं। भाष्य का लक्षण तो "आक्षिप्य भाषणात् भाष्यम्" अर्थात् अपने ही को आक्षेप करते हुए सिद्धांत की स्थापना की जावे। ऐसी प्रवृत्ति उनकी लेखनी में नहीं है, किसी-किसी सूत्र में ही भाष्य शैली अपनाई गई है।

२. **"स मुख्योऽर्थस्तत्र मुख्यो व्यापारोऽस्याभिधोच्यते"**

—काव्य प्रकाश, २।११।

[शब्द के द्वारा जो बिना किसी रूकावट के अर्थ ज्ञात हो उस मुख्य अर्थ को अभिधार्थ कहते हैं]

३. **विषयोविषयश्चैव पूर्वपक्षस्तथोत्तरम् ।**
**संगतिश्चेति पञ्चाङ्गं शास्त्रोऽधिकरणं स्मृतम् ॥**

[विषय, उस पर किया गया संशय, प्रश्न, उत्तर और उनकी संगति यही अधिकरण में संकलित होते हैं]

ब्रह्मसूत्र में जिन वेदांतियों का नाम आया है, आज उनके कोई ग्रंथ नहीं मिलते, और न पहले ही थे, यदि कोई ग्रंथ होते तो निश्चित ही उनका उल्लेख किसी भाष्य में अवश्य आता। हो सकता है, ब्रह्म सूत्र की रचना के प्रथम उनके कोई ग्रंथ हों जो बौद्ध मत के आगे लुप्त हो गये हों।

**द्वैताद्वैतवादी प्राग्वर्त्ती आचार्य**

१—ब्रह्मसूत्र, १।२।३० और १।४।२० में आश्मरथ्य का उल्लेख है। इनके मत में विज्ञानात्मा और परमात्मा में भेदाभेद संबंध है। पूर्व मीमांसा जैमिनि सूत्र, ६।५।१६ में भी इनका उल्लेख है।

२—औडुलोमि का मत ब्रह्मसूत्र, १।४।२१-३।४।४५।। तथा ४।४।६।। में दिया गया है। इनके मत से अवस्था की भिन्नता के कारण भेदाभेद होता है। संसार दशा में जीव और ब्रह्म में भेद है मुक्त अवस्था में अभेद। शांकर भाष्य के टीकाकार वाचस्पति मिश्र ने अपनी भामती टीका में इसका विस्तृत विवेचन किया है। मीमांसक आचार्य आत्रेय का मत निराकरण करने के लिए बादरायण ने इनके मत को मान्य कहा है।

३—आचार्य काशकृत्स्न के ब्रह्मसूत्र, १।४।२२। में कहे गये मत का तात्पर्य है कि परमात्मा, जीवात्मा के अंतःकरण में विराजमान होकर, जीवात्मा पर नियंत्रण करता है। इस प्रकार उन दोनों में नियम्य और नियंता रूप से भेदाभेद संबंध है। शंकराचार्य जी इन्हें श्रुत्यनुसारी यथार्थ तत्ववेत्ता आचार्य मानते हैं। ये व्याकरण के भी आचार्य थे। वृत्तिकार कात्यायन इनका कई स्थलों पर उल्लेख करते हैं। पातंजल महाभाष्य ४।१।१४ और ४।१।९३ तथा ४।३।१५।। में काशकृत्स्नीय मत की मीमांसा की गई है।

४—ब्रह्मसूत्र में आचार्य बादरि का विशेष उल्लेख है। ज्ञात होता है ये आचार्य बादरायण के अंतेवासी बदरीवन के आश्रम से ही कोई महानुभाव हैं। आचार्य जैमिनि भी व्यासाश्रम के ही थे अतः उन्होंने भी अपने मीमांसा सूत्रों में बादरि का मत उल्लेख किया है। आचार्य बादरायण ने अपने मत के समर्थन में इनका मत कहा है। ये उपास्य-उपासक भाव से जीव-ब्रह्म का भेदाभेद स्वीकार करते थे। उस समय के आचार्यों में इनकी सर्वाधिक विशेषता यह थी कि ये भगवदुपासना में सभी वर्णों का समान अधिकार मानते थे, यहाँ तक कि वैदिक कर्मों में भी शूद्रों का अधिकार कहते थे। इसी स्थल पर जैमिनि इनका विरोध करते थे।

५—कार्ष्णाजिनि आचार्य बादरि मत के समर्थक आचार्य हैं, ब्रह्मसूत्र ३।१।९ में इनकेमत को बादरायण अपना समर्थक कहते हैं। मीमांसा सूत्र

४।३।१७ और ६।७।३५ में जैमिनि इनका खंडन करते हैं। इन्हों
परमात्मचिंतन में सदाचरण की विशेषता स्वीकार की है।

इन आचार्यों के अतिरिक्त आचार्य काश्यप, असित देवल, गा
जैगीषव्य, पराशर, भृगु आदि के नाम वेदांतविद आचार्य के रूप में पुराणों
कहे गये हैं। ये प्राय: वैष्णव मत के थे साथ ही भेदाभेदवादी थे।

**बादरायण का मत द्वैताद्वैत**

भगवान् बादरायण ने उपनिषदों में प्रतिपाद्य द्वैत और अद्वैत वाक
का समन्वय कर ब्रह्मसूत्र में द्वैताद्वैत रूप दिया है। सूत्र १।१।४ "त
समन्वयात्" में उन्होंने यह दिखलाया है कि श्रुतियाँ, ब्रह्म की विश्वव्यापक
और अतिशायिता दोनों को मानने में एकमत हैं। सूत्र १।४।२३ "प्रकृति
प्रतिज्ञा दृष्टांतानुपरोधात्" का तात्पर्य है कि ब्रह्म विश्व का निमित्त औ
उपादान दोनों कारण है। श्रुति की इस प्रतिज्ञा "जिस ब्रह्म से संपूर्ण अ
पदार्थ श्रुत, अमत-मत तथा अविज्ञात-विज्ञात हो जाते हैं" और "एक
मिट्टी के पिण्ड से सभी मिट्टी के पदार्थों का ज्ञान हो जाता है।"
दृष्टांत से यह बात सिद्ध हो जाती है।

सूत्र १।४।२७ "योनिश्च हि गीयते" का अर्थ है, कि श्रुतियाँ ब्रह्म
प्रत्येक पदार्थ का कारण बतलाती हैं। इससे स्पष्ट है कि ब्रह्म जगत्
उपादान कारण भी है।

सूत्र २।१।१४ "तदन्यत्वमारम्भण शब्दादिभ्य:" में कहते हैं कि क
रूप जगत् और उपादान ब्रह्म में सूक्ष्म ऐक्य और सूक्ष्म द्वैत है।

सूत्र ३।२।२७ "उभय व्यपदेशादहि कुंडलवत्" में उसी बात की पु
करते हुए, विश्व को सूक्ष्म और स्थूल रूप से, अभेद और भेद संबंध से, अ
उपादान कारण ब्रह्म में व्याप्त कहा है। जैसे कि सर्प कुण्डली बनाकर बै
रहता है तो उसके प्रत्येक अंग को स्पष्ट देखा नहीं जा सकता, फैलने पर
उसे देख सकते हैं। उसी प्रकार प्रलय में सारा विश्व लीन होकर ब्रह्म
रहता है, सृष्टि में वही आविर्भूत हो जाता है।

इसी प्रकार सू० २।३।४३ "अंशो नाना व्यपदेशादन्यथा चापि द
कितवादित्वमधीयत एके" में जीव को ब्रह्म का अंश और तन्मय सिद्ध कि
है और उसके प्रमाण में सू० २।३।४४ और २।३।४५ "मंवर्णात्" तथा "
च स्मर्यते" में, श्रुति मंत्रों और गीता वाक्य, "पादोस्यविश्वाभूतानि"
"ममैवांशों जीव लोके जीव भूत: सनतान:" की प्रामाणिकता कही
है।

सूक्ष्म दृष्टि से विश्लेषण करने पर यह सिद्ध है कि भगवान् बादरायण जगत् और ब्रह्म तथा जीव और ब्रह्म में भेदाभेद संबंध मानते थे।

## श्री निंबार्क का द्वैताद्वैतवाद

यह निश्चित हो चुका कि श्रुतियों का तथा ब्रह्मसूत्र का प्रतिपाद्य द्वैताद्वैत मत है। बादरायण के समकालीन और प्राग्वर्त्ती वेदांतविद् भी द्वैताद्वैतवादी थे। फिर निंबार्क ही द्वैताद्वैतवाद के प्रधान प्रतिनिधि क्यों माने जाते हैं ? यह विचारणीय प्रश्न है। इसका उत्तर स्पष्ट है कि श्रुति तत्त्व के प्रतिपादक ब्रह्मसूत्रों की कसौटी पर जो सिद्धांत खरे उतरे वही मान्य सिद्धांत हुए और जिसने उस सिद्धांत की प्रमाणिकता सिद्ध की, वे भी उस सिद्धांत के प्रतिनिधि या प्रवर्त्तक आचार्य माने गये। द्वैताद्वैत मत को ब्रह्मसूत्र के अक्षर स्वारस्य से वाक्यार्थ रूप में प्रकट करने वाले आदि आचार्य श्री निंबार्क ही थे। इसलिये द्वैताद्वैतवाद उन्हीं का प्रधान मत कहा गया। इस समय उपलब्ध द्वैताद्वैत परक भाष्यों में दो ही हैं। एक निम्बार्क भाष्य और दूसरा भास्कर भाष्य।[1] आजकल के सभी अन्वेषक एक स्वर से भास्कराचार्य को १००० ई० का तथा निंबार्काचार्य को १२५० ई० का सिद्ध कर रहे हैं। यदि ऐसा है तो क्यों न हम द्वैताद्वैत या भेदाभेद का प्रवर्त्तक भास्कराचार्य को ही माने क्योंकि उन्होंने बहुमत से सर्वप्रथम ब्रह्मसूत्र का भेदाभेद परक अर्थ किया है। साथ ही बृहदारण्य कोपनिषद्, शांकरभाष्य तथा आनंदगिरि की टीका से ज्ञात होता है कि शंकराचार्य ७८८-८२० ई० के लगभग एक शताब्दी पूर्व भर्तृप्रपंच नामक कोई भेदाभेदवादी आचार्य हुए थे, जिन्होंने भाष्य लिखा था, जो कि अब उपलब्ध नहीं है। शांकरभाष्य,

---

१. भास्कराचार्य, शंकराचार्य के तत्काल बाद ही हुए प्रतीत होते हैं, क्योंकि ९८४ ई० के श्री उदयनाचार्य ने न्याय कुसुमांजलि में इनका खंडन किया है। श्री रामानुजाचार्य (११४० ई०) ने वेदांत संग्रह में इनके मत का उल्लेख किया है। शांकरभाष्य के टीकाकार वाचस्पति मिश्र ने भामती में इनके मत का निराकरण किया है।

प्रसिद्धि है कि रामानुज के विद्या गुरु श्री यादव प्रकाश जी, जो कि प्रथम अद्वैतवादी थे, बाद में भेदाभेदवादी हो गए। वे स्वाभाविक भेदाभेद मानते थे। श्री रामानुज ने वेदांत प्रदीप में इनके मत का निराकरण किया है। सुदर्शनाचार्य ने श्रुतिप्रकाशिका में भी यादव प्रकाश का मत दिया है।

सुरेश्वराचार्य[१] के "वार्तिक" और रामानुजभाष्य में इनके मत का उल्ले
किया गया है। शंकराचार्य ने ब्रह्मसूत्र २।१।१४ में इनके भेदाभेद का खंड
किया है तथा बृहदारण्यकभाष्य में इन्हें "औपनिषदं मन्य" कहकर उपहा
किया है। शंकर के शिष्य "ब्रह्मवादी" कहकर इनकी प्रशंसा करते है
भर्तृप्रपंच ने मोक्ष के लिये ज्ञानकर्म समुच्चयवाद का सिद्धांत स्थिर कि
था। यही मत निंबार्काचार्य ने अपने मंत्र रहस्य षोडशी में ब्रह्मविद्या
व्याख्या करते हुए स्थापित किया है। इससे यह भी कहा जा सकता है
भर्तृप्रपंच ही भेदाभेद के प्रथम प्रवर्तक आचार्य थे। आजकल के मत से
निबांक इन दोनों से परवर्ती कहे जाते हैं, तो उनका मत तो इन दोनों
पिष्टपेषण मात्र होगा, प्रधान कैसे होगा ? जबकि आधुनिक अन्वेषक
निंबार्क को ही प्रधान मानते हैं। इस विचार से यह सिद्ध है कि निंबार्क
ब्रह्मसूत्र के सर्व प्रथम व्याख्याकार हैं। उन्हीं की व्याख्या के आधार
परवर्त्ती सभी व्याख्याओं की रचना हुई है जो कि इस समय उपलब्ध है। य
भी नहीं कहा जा सकता कि "श्री निंबार्क का भाष्य ही विशुद्ध द्वैताद्वैत पर
है, इसलिए उन्हें प्रधानता दी गई है। भास्कर का भाष्य, औपाधि
भेदाभेद को कहता है। इसलिये उसे प्रधान नहीं माना।" क्योंकि किसी
किसी रूप में भेदाभेद तो शंकर रामानुज आदि ने भी माना है फिर भास्क
की क्या विशेषता होगी ?

यह तर्क भी उपस्थित नहीं कर सकते कि "श्री निंबार्क भक्ताचार्य
इसलिए उन्हें प्रधानता दी गई है।" ऐसा ही था तो हित हरिवंश आदि
समान भक्ताचार्य ही माना जाता, वेदांताचार्य नहीं। श्री निंबार्क प्रधान
से वेदांताचार्य ही प्रसिद्ध हैं। वेदांत उनका सैद्धान्तिक पक्ष था और भ
व्यावहारिक पक्ष। इन दो पक्षों के समन्वय से ही वे ज्ञानकर्मसमुच्चयवा
थे।

---

१. सुरेश्वराचार्य शंकराचार्य के शिष्य थे इन्होंने आचार्य शंकर
उपनिषद् भाष्यों पर वार्तिक लिखे हैं। इन्हीं का नाम मण्डनमिश्र है। शंकर
शास्त्रार्थ में पराजित होने के वाद शिष्य होने पर इनका संन्यासाश्रम का
सुरेश्वराचार्य हुआ है।

२. श्री भाष्कर के भाष्य की पंक्ति की पंक्ति और प्रतिपादन की शैली
निंवार्क के वाक्यार्थ से मिलती है। उपनिषद् वाक्यों के उदाहरण भी प्रायः वह
जो श्री निंबार्क भाष्य में दिए गये हैं। रामानुज इन्हें सूत्र १।१।४ में
नियोगवादी कहते हैं।

सबसे बड़ी बात तो ये हैं कि श्री निंबार्क सांख्य आदि मतों का जब निराकरण करते हैं तो उनके समक्ष शंकराचार्य का अद्वैत सिद्धांत आता तो वो उसे सरलता से कैसे पचा जाते ? साथ ही शंकराचार्य का शून्यवाद की ओर झुकाव होने से उन्हें जो अर्द्ध बौद्ध की उपाधि दी गई[१] उससे क्या श्री निंबार्क अपरिचित थे, जबकि श्री निंबार्क ने बौद्धों के शून्यवाद का निराकरण किया है। मायावाद को शंकर के परवर्त्ती किसी भी आचार्य ने स्वीकार नहीं किया।[२] श्री निंबार्क ने मौन होकर उसे स्वीकार कर लिया अथवा उपेक्षा कर दी हो ऐसा समझ में नहीं आता। इस बात को हम किसी प्रकार मान भी लें कि श्री निंबार्क मौन साधक थे और उन्होंने शंकराचार्य के मत की उपेक्षा कर दी क्योंकि वे शुद्ध चित्त महानुभाव थे।[३] पर श्री शंकर द्वारा वैष्णव धर्म पर किए गये अवैदिकत्व के आक्षेप की भी वे उपेक्षा कर जावें ऐसा कभी भी संभव नहीं था। वे परमभागवत वैष्णव थे, उन्होंने ब्रह्म का निरूपण करते हुए ब्रह्म के चतुर्व्यूहावतार को ही माना है। श्री शंकर चतुर्व्यूंहावतार का ही खंडन करें और निंबार्क भागवतीय खंडन की अवहेलना कर दें, ऐसा तो कोई भी विचारक नहीं मानेगा।[३]

---

१. भाष्कराचार्य ही प्रथम व्यक्ति हैं जिन्होंने सू० १।४।४५ में शंकर के मायावाद को महायानिक शून्यवाद की गाथा कहा है "महायानिक बौद्ध गाथितं मायावादम्।"

२. **मायावादमसच्छास्त्रं प्रच्छन्नं बौद्धमेव च"** (पद्म पुराण १।४)
**"वेदवादच्छद्म प्रच्छन्न बौद्ध निराकरणे"**(रामानुज भाष्य २।२।२७)
**"वेदार्थवनमहाशास्त्रं मायावादमवैदिकम्।**
**यच्छून्यवादिनः शून्यं तदेव ब्रह्ममायिनः ।।**
**नहिलक्षण भेदोऽस्ति निर्विशेषस्त्वतस्तयोः।"** (मध्वाचार्य)

३. **मैत्रीकरुणा मुदितोपेक्षाणां सुखदुःखपुण्यापुण्य विषयाणां।**
**भावनातश्चित्त प्रसादनम्।** (योगसूत्र १।३३)

[सुखी प्राणियों से मित्रता, दुःखी प्राणियों पर करुणा पुण्यात्माओं से मुदिता तथा पाप कर्म की उपेक्षा करने से चित्त निर्मल होता है।]

४. शंकराचार्य सू० २।२।४२ से ४५। में भागवतों के चतुर्व्यूहावतार को "असंगतैषा कल्पना" कहते हैं, तथा इसे अवैदिक कल्पना कहते हैं "न चैवं भूतां श्रुतिमुपलभामहे।"

श्री निंबार्काचार्य ने अपने समय के प्रचलित प्रायः सभी वादों का निराकरण किया है। सू० २।२।४२ से ४५ तक श्री निंबार्क शक्तिकारणवाद का निराकरण करते हैं।तथा श्री शंकर उन्हीं सूत्रों से भागवतधर्म का। शंकर के परवर्ती श्री रामानुज, केशव कश्मीरी आदि वैष्णव भाष्यकारों ने शंकर द्वारा किये गये आक्षेप

## श्री निंबार्क ही द्रविड़ाचार्य

प्राचीन वेदांताचार्यों में श्री द्रविड़ाचार्य का भाष्यकार के रूप में उल्लेख आता है। श्री रामानुज "वेदार्थ संग्रह" पृष्ठ १५४ में सादर जिन प्राचीन वेदांतियों का उल्लेख करते हैं, वहाँ द्रमिलाचार्य रूप से इनका स्मरण करते हैं। श्रीनिवासदास ने "यतीन्द्रमतदीपिका" (पू०सं०पृ० २) में इन्हें द्रमिड़ाचार्य कहा हैं। श्री शंकराचार्य ने मांडूक्योपनिषद् भाष्य २।२० और २।३२ में इन्हें "आगमविद्" तथा बृहदारण्यकोनिषद् भाष्य में "संप्रदायवद्" कहा है। जहाँ कहीं भी इनका उल्लेख, शंकर करते हैं, वहाँ सम्मान प्रकाश ही करते हैं, कहीं भी खंडन नहीं करते। श्री निंबार्क की सूक्ष्माति सूक्ष्म भाव दर्शन विवेचन शैली और असंदिग्ध शब्द योजना को लक्ष्य कर ईसा की १० वीं सदी के श्री यमुनाचार्य जी अपने "सिद्धित्रय" ग्रंथ में लिखते हैं" भगवता बादरायण इदमर्थमेव सूत्राणि प्रणीतानि विवृतानि च परिमित गंभीर भाष्यकृता। (भगवान् बादरायण ने इसी अर्थ में सूत्रों का निर्माण किया जिनका विवरण परिमित सूक्ष्म और गंभीर शैली से भाष्यकार द्रविड़ाचार्य ने किया है) श्रीरामानुज, श्री शंकर और सर्वज्ञान मुनि ने द्रविड़ाचार्य के छांदोग्योपनिषद् भाष्य के कुछ अंश अपने ग्रंथों में उद्धृत किए हैं। श्री रामानुज ने अपने वेदांतसूत्र के श्री भाष्य २।१।१४ में यथाह "द्रमिड़ भाष्यकार" कहकर द्रमिड़ाचार्य के छांदोग्योपनिषद् भाष्य का एक अंश उद्धृत किया है।

श्री निंबार्क ही द्रविड़ देश में जन्म लेने के कारण द्रविड़ाचार्य कहाये थे।[1] भागवत धर्म के उदयकाल के जिस पाँच आचार्यों की चर्चा पीछे की

---

का डटकर खंडन किया तथा भागवतमत का औचित्य सिद्ध करते हुए उसे वेद प्रतिपाद्य बतलाया। वल्लभाचार्य के अणु भाष्य के टीकाकार श्री पुरुषोत्तम अपने "भाष्य प्रकाश" में शंकर के परवर्ती प्रधान वैष्णव भाष्यकारों में रामानुज एवं मध्व का उल्लेख करते हैं। श्री निंबार्क को पूर्वाचार्य कहते हैं। (देखें— सूत्र २।२।४१ की टीका) केशव कश्मीरी भी श्री निंबार्क को पूर्वाचार्य ही कहते हैं।

१. श्री रामानुज ने वेदार्थ संग्रह में, वैदिक परम्परा के व्याख्याकारों की चर्चा करते हुए उनका सादर स्मरण किया है, उनमें द्रविड़ाचार्य भी हैं—

"भगवद् बोधायन टंक द्रामिड़ गुरुदेवकपर्दि भारुचि प्रभृत्य शिष्य परिग्रहीत पुरातन वेदांत व्याख्यान सुव्यक्तार्थ श्रुति निदर्शितोऽयं पंथाः।'

**द्राविड़ भुव में अरुन गेह द्विज ह्वै प्रकटाए।**
**तम पखंड दल मलन सुदरसन वपु कहवाए॥**

गई है, उनमें श्री निंबार्क द्रविड़ देश के, श्री विष्णु स्वामी आंध्र कर्णाटक के, कौडिन्य महाराष्ट्र के तथा शांडिल्य और गर्ग ब्रजमंडल के निकटस्थ प्रदेश के प्रतीत होते हैं।[1] श्रीमद्भागवत महात्म्य पद्म पुराण में जो भक्ति और नारद के संवाद को लौकिकी भाषा (रूपक अलंकार की भाषा) में वर्णन करते हुए भागवत धर्म के उदय की गाथा भक्ति द्वारा ही कहलाई है उससे कुछ प्रकाश मिलता है। भक्ति कहती है—

---

**सकल वेद को सार कह्यौ दस ही छंदन महँ।**
**सुख-मुख सो भागवत सुनी नृप देवरात तहँ॥**
**बनि अरक वृच्छ चढ़ि दरस दै, तिथि संक सब हर लई।**
**श्री निंबादित्य स्वरूप धरि, आपु तुङ्ग विद्या भई॥**

[उत्तरार्ध भक्तिमाल भारतेन्दु हरिश्चन्द्र]

१. **विष्णु स्वामी के लिए भारतेन्दु जी ने लिखा है—**
**"श्री सुक सो लहि ज्ञान आंध्र भुवि पावन कीनी"**

शांडिल्य नंदवंश के पुरोहित थे जो कि ब्रजमंडल के निकट ही कहीं कुटी बनाकर रहते थे—"नंदादीनां पुरोहितं शांडिल्यम्"

स्कंद पुराण, वैष्णव खंड, १।१६।

उस समय (नंदवंश ई०पू० ४ सदी) में मथुरा मंडल के राजा, चंद्रवंश के वज्रनाम थे और इन्द्रप्रस्थ (दिल्ली) के विष्णुरात थे, जो कि राजा परीक्षित के ही अवतार माने जाते थे। इन्हीं विष्णुरात को महाभागवत कहा गया है—

**तस्मान्नाम्ना विष्णुरात इति लोके बृहच्छ्रवाः।**
**भविष्यति न संदेहो महाभागवतो महान्॥**

भागवत, १।१२।१७॥

मथुरा मंडल जो कि उजड़ चुका था, जैनों का और बौद्धों का केन्द्र वन गया था महर्षि शांडिल्य की कृपा से वज्रनाम से विष्णुरात की सहायता से फिर से वैष्णव केन्द्र वनाया। "वज्रस्तु तत् सहायेन शांडिल्य स्याप्यनुग्रहात्" (स्कंद पु०, वै० खं०, २।४) इस महाभागवत विष्णुरात ने ही भागवत सुनी थी। भागवतकार ने विष्णु के आख्यान (अपने सामने की घटना) को महाभारत कालीन राजा परीक्षित के उपाख्यान (परोक्ष की घटना) से मिलाकर वड़ा सुन्दर रूप दिया है। इसीलिए महाभारत के परीक्षित और भागवत के (परीक्षित) विष्णुरात के चरित्र में पर्याप्त भेद दीखता है। गर्ग वज्रनाभ के पुरोहित थे, मथुरा-मंडल में ही रहते थे—"गर्गोऽहं यदुवंशानां चिरकाल पुरोहितः।

(ब्र० वै पु० ४।१३)

श्री निंबार्क के उपनिषद् भाष्यों का अब पता नहीं चलता। अति प्राचीन आचार्यों के समान इनके ग्रंथ भी लुप्त हो गए हैं।

"उत्पन्ना द्रविडे चाहं वृद्धिं कर्णाटके गतः,
क्वचित् क्वचिन् महाराष्ट्रे गुर्जरे जीर्णतां गतः।
वृन्दावनं पुनः प्राप्य नवीनेव सुरूपिणी।"

"मैं द्रविड़ में उत्पन्न हुई, कर्णाटक में बढ़ी, कुछ-कुछ महाराष्ट्र में भी मेरी वृद्धि हुई पर गुजरात में जीर्ण हो गई। वृन्दावन में आने पर मुझे नया यौवन प्राप्त हो गया।"[१]

इससे ज्ञात होता है कि श्री आरुणि ने उस काल में (जब कि जैन और बौद्ध धर्म भारत के हिमालय से कन्या कुमारी तक प्रभावशाली थे) भक्ति को जन्म दिया। आंध्र कर्णाटक में श्री विष्णु स्वामी ने उस भक्ति की धूम मचा दी। महाराष्ट्र में कौंडिन्य नें भी उसका प्रचार किया। वृन्दावन में श्री निंबार्क ने गोवर्द्धन के निकट आकर अपना आश्रम बनाया। व्रजनाभ शांडिल्य और गर्ग ने भी व्रजमंडल को कृष्णमय बनाया, इस प्रकार वृन्दावन, भारतवर्ष का भक्ति का केन्द्र स्थल बन गया। राजा विष्णुरात उस समय के प्रचलित जैनधर्म से पूर्ण प्रभावित था उसको उससे हटाकर श्री आरुणि ने भागवत का रहस्य समझाकर वैष्णव बनाया और महाभागवत की उपाधि दी। विष्णुरात ने पूरे भारतवर्ष में भ्रमण करके देखा कि बौद्ध जैन धर्म के प्रभाव से वैधिक धर्म प्रायः समाप्त हो चुका है। पराजित ब्राह्मण धर्म ईश्वर और प्रारब्ध को कोश रहा था उसका कोई वश न था। बौद्धों का चैत्तिक समुदाय ईश्वर को न मानकर स्वतः ही आत्मोद्धार का उपदेश दे रहा था।

---

१. आजकल के अन्वेषकों ने भक्ति के द्रविड़ देश में जन्म लेने से अनुमान लगाया है कि भक्ति की भावना अनार्यों से द्रविड़ देश से आर्यों में आई है। ऐसी कल्पना कहाँ तक विचारपूर्ण है यह समझ में नहीं आता। ऐसा क्यों नहीं सोचा जाता कि अनार्यों के सम्पर्क से मांस- मदिरा आदि घृणित आचार जो आर्यों में प्रचलित हो गए थे तथा अनार्यों द्वारा प्रचलित भूत, प्रेत, पिशाच आदि की उपासना अश्लील रूप से आर्यों को प्राप्त हो गई थी और आर्य उनमें रम गए थे, उसे छुड़ाने के लिए महात्मा बुद्ध का करुणावतार आर्यों के मध्य में हुआ। उन्होंने यथाशक्य अनार्य आचरणों को आर्यों के समाज से दूर कर दिया। आर्यों के वैदिक शुद्ध विज्ञानपूर्ण यज्ञादि अनुष्ठानों में अनार्यों की हिंसा आदि घृणित कृतियाँ एकदम मिश्रित होकर उन पवित्र अनुष्ठानों के अंग बन गए थे इसलिए बुद्ध द्वारा उन आचारों के निराकरण करने पर वैदिक आचारों का भी निराकरण होना स्वाभाविक था। वैदिक आचारों की पुनः स्थापना के लिए ही भक्ति का जन्म द्रविड़ देश में हुआ उसके जन्मदाता द्रविड़ाचार्य थे। इसलिए भक्ति आर्य देश की उपज है अनार्यों की नहीं।

जैनी कर्म शुद्धि पर बल दे रहे थे ।[1] इस प्रकार बड़ी विभिन्नता थी । भारत के शासकों द्वारा जैन बौद्ध राज धर्म के रूप में मान्य थे । विभिन्न मतों का समन्वय भागवत धर्म ने किया उसी को विष्णुरात ने राजधर्म के रूप में सम्पूर्ण भारत में फलाने की चेष्टा और वाद-विवाद (कलि) को पराजित कर एकता स्थापित की ।[2] भागवत धर्म के प्रचार के लिये विष्णुरात ने वैष्णवों का बहुत बड़ा सम्मेलन गंगातट पर किया था उसमें अत्रि, वशिष्ठ च्यवन आदि विभिन्न गोत्रों के ऋषि एकत्र हुए थे, विष्णुरात ने सभी का समुचित सत्कार किया था ।[3] सभी महर्षियों ने उस सम्मलेन का अनुमोदन किया ।[4] विष्णुरात ने महर्षियों के समक्ष प्रश्न रक्खा कि "म्रियमाण (मरने वाले) मनुष्यों के लिए अंतकरण और शरीर से करने योग्य विशुद्ध कर्म कौन-सा है ?"[5] इस प्रश्न का उत्तर शुकरूप श्री आरुणि ने ही दिया, भागवत धर्म के रूप में । आरुणि ने जिस भक्ति रस को बादरायण सूत्र के वाक्यार्थ में प्रवाहित किया था उसी को बादरायण ने भागवत रूप में प्रकट कर शुकरूप श्री आरुणि को पढ़ाया, उसे ही उन्होंने काल रूपी सर्प के ग्रास रूप प्राणियों की सुक्ति के लिये प्रकट किया था ।[6]

---

१. **केचिद् विकल्पवसना आहुरात्मानमात्मनः ।**
**दैवमन्ये परे कर्म स्वभावमपरे प्रभुम् ।** [भागवत—१।१७।१९]

[कोई आत्मा को ही दुःख का कारण कह रहा था, कोई प्रारब्ध और ईश्वर को, कोई स्वभाव और कर्म को]

२. **एकाकारं कलिं द्रष्ट्वा सारवत् सारनीरसम् ।**
**विष्णुरातः स्थापितवान् कलिजानां सुखाय च ॥**
पद्म पु० उत्तर खं० १।६९।

[विष्णुरात ने जब देखा कि सारे मतभेद दूर होकर एकता हो गई है तो उन्होंने सारे नीरस मतों में सार रूप भागवत धर्म की स्थापना की]

विष्णुरात अपने राज प्रभाव से, सतयुग के अंत तक का जो वैदिक धर्म था उसे पुनः कलियुग में स्थापित किया था ।

३. **"नानार्षेयप्रवरान समेता नभ्यर्च्यराजा शिरसा ववंदे ।"**
भा० १।१९।११।

४. **"महर्षयोवैसमुपागता ये प्रशस्य साध्वित्यनुमोद्मानाः ।"**
भा० १।१९।१९।

५. **"सर्वात्मना म्रियमाणैश्च कृत्यं शुद्धं च तत्रामृशताभियुक्ताः ।"**
भा० १।१९।२४।

६. भागवतकार के कृष्ण द्वैपायन पुत्र शुक और आरुणि के चरित्र को संहित = मिलाकर भागवत धर्म के उपदेष्टा शुक का रूप खड़ा कर दिया । श्री आरुणि एकांत सेवी, मौनी ब्रह्मचारी थे वही रूप भागवत शास्त्र के उपदेष्टा शुक

श्रीमद्‌भागवत् के अनेक स्थलों पर श्री निंबार्क के सिद्धांत का निरूपण किया गया है। जैसे कि जीव रूपी अर्जुन[१] को जब मृत ब्राह्मण (ब्रह्मजन्य) बालकों (जीवों) के अमृतत्व को जानने की अभिलाषा हुई तो भगवान श्रीकृष्ण जो कि जीव के सहचारी सखा है,[२] उन्होंने अर्जुन के साथ पश्चिम दिशा के ओर अपने चार घोड़ों वाले रथ पर बैठकर प्रयाण किया।[३] उस मार्ग पर बड़ा अंधकार था, उस मार्ग को प्रकाशित करने वाले सहस्रों सूर्यों के समान सुदर्शन थे।[४] उस प्रकाशित मार्ग में जीव ने भोग के आसन पर सुखासीन पुरुषोत्तम को देखा, वह परंज्योति रूप की प्राप्ति थी।[५] उस प्रकाशमान स्थल पर सुदर्शन मूर्तिमान रूप से विराजते हैं। परब्रह्म श्रीकृष्ण

---

का भी है। महाभारत, देवी भागवत आदि के शुक-गृहस्थ थे।

**काल व्याल मुख ग्रास त्रास निर्णाश हेतवे।**

**श्रीमद्‌भागवतं शास्त्र कलौ कीरेण भाषितम्।** [प०पु०उ०खं० १।११]

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र जी के छप्पय का यही सारांश है कि जिसे आरुणि ने दस श्लोकों में कहा था उसे ही विष्णुरात को भागवत रूप में सुनाया।

**"सकल वेद को सार कह्यौ दस ही छंदन महं।**

**सुक मुख सो भागवत सुनी देवरात तहं॥"**

श्री आरुणि ने जो दस श्लोकों में उपास्य, उपासक, भक्तिरस, ब्रह्मविद्या और माया का रहस्य कहा है उसे ही भागवत में भी कहा था।

१. देखें, भागवत १० स्कंध का ८९ अध्याय।

२. "द्वासुपर्णा सयुजा सखाया" (श्वेता० ४।६ मु० ३।१।१॥]

३. **इति संभाष्य भगवानर्जुनेन सहेश्वरः।**

**दिव्यं स्वरथमास्थाय प्रतीचीं दिशमाविशत्॥** भा० १०।८९।४७।

[भगवान ने अर्जुन से कहा कि अपने को दुःखी मत करो "उद्धरेदात्मनात्मानं, नात्मानमवसादयेत्" मैं तुम्हें ब्राह्मण पुत्रों को दिखलाऊँगा (भा० १०।८९।४६) ऐसा कहकर अर्जुन के साथ ईश्वर दिव्य (अलौकिक) रथ पर बैठकर पश्चिम दिशा की ओर गये]

४. "सहस्रादित्य संकाशं स्वचक्रं प्राहिणोत् पुरः (भा० १०।८९।५०)

[हजारों सूर्यों के समान प्रकाशमान स्वकीय चक्र को ही आगे मार्ग प्रदर्शन की आज्ञा दी]

५. **"ददर्श तदभोग सुखासनं विभुं महानुभावं पुरुषोत्तमोत्तमं"**

(भा० १०।८९।५५)

**"द्वारेण चक्रानुपथेन परं परं ज्योतिरनंत पारम्॥"**

(भा० १०।८९।५२)

ने वहाँ जाकर अपने ही अनंतरूप भूमा की वंदना की । भूमा की सुदीर्घ आठ भुजायें थी ।[१]

इस कथा का रहस्य श्री निंबार्क का मोक्ष सिद्धांत है । जो ज्योति, अंधकार पूर्ण पश्चिम मार्ग में दिखलाई गई वह परम भगवान श्री निंबार्क के ज्ञान का प्रकाश ही है । ऐसा श्रीधर स्वामी की टीका से स्पष्ट होता है ।[२] वह प्रतीची = पश्चिम मार्ग जीव का भोग मार्ग है ।[३] इस भोग मार्ग में जीव आनन्द की प्रतीति करता है, पर वह यह नहीं जानता कि यह भोग मार्ग, अंधकार पूर्ण, अल्प आनंद वाला है । इसलिए जीव को इस अंधकार से प्रकाश की ओर जाने की चेष्टा करनी चाहिये । प्रकाश की ओर ले जाने वाले निरन्तर भगवद्‌भक्ति में लगे हुए गुरु ही होते हैं अत: उनके शरणापन्न होकर ही उस प्रकाश को प्राप्त किया जा सकता है ।[४] अंधकार में डूबा हुआ जीव गुरु से प्रार्थना करता है कि "तमसो मा ज्योतिर्गमय" ।[५] तब गुरु रूप भागवत चक्र ही अंधकार में सुन्दर प्रकाश का दर्शन कराते हैं, इसलिए वे सुदर्शन हैं । संसार चक्र को काटकर सुदर्शन चक्र प्रकाश करते हैं । संसार चक्र नीम के वृक्ष के समान कटु अनुभव वाला, उस कटुता में भी बहुल सुख का प्रकाश करने वाले ब्रह्म चक्र श्री निंबार्क हैं । उनके प्रकाश से यह जीव निर्मल हंस रूप हो जाता है । परमात्मा के समान ज्योति को प्राप्त कर ही वह हंस होता है । गुरु और ब्रह्म को आनंद का प्रेरिता मानने पर जीव अमृतत्व

---

१. "चक्रादिभिमूर्तिधरैर्निजायुधैः" (भा० १०।८०।५७)
**"ववंद आत्मानमनंत मच्युतो तावाह भूमा परिमेष्ठिनां प्रभुः"** (भा० १०।८९।५८)

**"प्रलंब चार्वष्ट भुजं"** (भा० १०।८९।५६)

२. **"परं श्रेष्ठं भागवतं ज्योतिः"** (श्री धरी भा० १०।८९।५२)
[यह जीवात्मा के स्व का प्रकाश था आत्मा से आत्मा का उद्धार था । ब्रह्म के स्व चक्र जीव की भगवदुपासना द्वारा स्व समान रूप की प्राप्ति थी] ।

३. **पश्चिमे इत्यधोद्वारो गुदं शिश्नमिहोच्यते"** (भा० ४।२९।१०)
(जीव के नीचे के शरीर की दो इंद्रियाँ गुदा और शिश्न पश्चिम मार्ग हैं ।)

४. देखें ब्रह्मसूत्र १।१।१। का वाक्यार्थ ।

५. मुझे अंधकार से प्रकाश की ओर ले जावें ।

प्राप्त करता है।[१] जब जीवात्मा जगत का भोक्ता स्वयं को मानने लगता है, तभी सांसारिक भोगों में उसकी आसक्ति हो जाती है। यह आसक्ति ही अंधकार है। इसी आसक्ति को परमात्मा की ओर लगा देना ही प्रकाश है जब सांसारिक भोगों को सीमित रक्खा जाता है और अंतकरण चतुष्ट्य—मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार को भोगों में संलग्न नहीं होने दिया जाता तो निश्चित ही प्रकाश प्राप्त होता है। अंतःकरण में शुभ्र कांतिमान हंस रूप ईश्वर का निवास है। उसको प्राप्त करने के लिए अंतःकरण की प्रवृत्ति को निरंतर अंतस्थ ब्रह्म की चर्या (सेवा)[२] में लगाना चाहिए। सांसारिक भोग तो केवल शरीर के धर्म हैं। अंतःकरण का धर्म तो हृदय के अति उज्ज्वल नित्य वृन्दावन में नित्य रहस करने वाले श्री राधा कृष्ण युगल हंस की भावमयी लीला[३] में निरंतर लगा रहना ही है। श्री निंबार्क

---

१. **सर्वाजीवे सर्वे संस्थे वृहंते अस्मिन् हंसो भ्राम्यते ब्रह्म चक्रे।**
**पृथगात्मानं प्रेरितारं च मत्वा जुष्टस्ततस्तेनामृतत्वमेति ॥**
(श्वे० १।६)

[सबके आश्रयभूत विस्तृत ब्रह्म चक्र (सुदर्शन चक्र) में जब यह ज्ञान स्वरूप हंस जीवात्मा घुमाया जाता है, तब वह अपने को और अपने प्रेरक परमात्मा को भिन्न मानकर उसी परमात्मा से संलग्न हो जाता है। (समता प्राप्त कर लेता है) और अमृत्व प्राप्त कर लेता है।

**यदा पश्यति पश्यते रुक्मवर्ण कर्त्तारमीशं पुरुषं ब्रह्मयोनिम्।**
**तदा विद्वान्पुण्य पापे विधूय निरंजनः परमं साम्युपैति ॥** मु० ३।१।३।

[जब यह जीवात्मा सबके शासक परब्रह्म के तत्व का साक्षात् कर लेता है तब पुण्य पाप से छूटकर परमात्मा के समान प्रकाशवान हो जाता है]

इन दोनों श्लोकों में ब्रह्म जीव का द्वैताद्वैत भाव दिखलाया गया था। यही श्री निंबार्क का सिद्धांत है। इसी को भागवत की इस कथा में रहस्यमय रूप से दिखलाया गया है।

२. **सत्येन लभ्यस्तपसा ह्येष आत्मा सम्यग्ज्ञानेन ब्रह्मचर्येण नित्यम्।**
**अंतःशरीरे ज्योतिर्मयो हि शुभ्रो यं पश्यंति यतयः क्षीणदोषाः ॥**
मु० ३।१।५

[इस अंतःकरण में ही विहार करने वाले ज्योतिर्मय शुभ्र परमात्मा को सत्य भाषण तप और ब्रह्मचर्य से संयमशील महापुरुष देख पाते हैं]

३. **नवद्वारे पुरे देही हंसो लेलायते बहिः।**
**वशी सर्वस्य लोकस्य स्थावरस्य चरस्य च ॥** श्वेता० २।१८।

[संपूर्ण स्थावर जंगम जगत को वश में रखने वाले हंस रूप परमात्मा ही इस नव इंद्रियों वाले शरीर के अन्दर और बाहर जगत में भी लीला कर रहे हैं]

मूर्त्तिमान होकर सदा उस स्थल पर उपस्थित रहते हैं। यही श्री आचार्यचरण के "उपासनीयं नितरां जनैः सदा" (भगवान की उपासना निरंतर करनी चाहिये) का तात्पर्य है। श्री निंबार्काचार्य जी सख्यभाव से युगल सरकार की उपासना में निरंतर लगे रहते थे इसलिए नैष्ठिक ब्रह्मचारी थे।

[क्योंकि वे सदा निष्ठा के साथ ब्रह्म की चर्या में लगे रहे]

सांसारिक भोगों की आसक्ति संसार चक्र के बंधन में डालती है। श्वेतद्वीप (प्रकाशमय अंतःकरण के नित्य वृन्दावन) में भोग के आसन पर सुखासीन पुरुषोत्तम श्री कृष्ण की सेवा की आसक्ति ही मुक्ति है। अंतःकरण चतुष्ट्य मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार ही दिव्य अंतः के चार घोड़े हैं। इनको सांसारिक आसक्ति चक्र में भटकते देखकर ब्रह्म चक्र श्री निंबार्क ही उपासना मार्ग प्रदर्शन करते हैं। यही उपासना मार्ग का ब्रह्मचर्य है। इसी को सख्यभाव में तत्सुख सुखित्व भाव कहते हैं। एतत् (जगत) के अल्प भोगमय सुख में, मन, बुद्धि, चित्त अहंकार को न लगाकर, अंतःकरण के प्रकाशमय सत् अनंत अष्टभुजी सर्वेश्वर रूप भूमा तत् सुख में लगाना ही जीवन की सार्थकता है। यही द्वैताद्वैत का उपासनामय सिद्धांत है। इसे ही श्री निंबार्क का उपदिष्ट उज्ज्वल मार्ग समझना चाहिए।

वह निश्चित ही युगुल मूर्त्ति श्री राधा कृष्ण के नित्य विहार सुख का आनन्दमय शाश्वत और अनंत प्रकाशमय मार्ग है।

अंतःकरण में जीवात्मा और परमात्मा साथ-साथ रहते हैं पर जीवात्मा परमात्मा के अनन्त प्रकाशमय सुख की अनुभूति नहीं कर पाता। उसको तो हजारों सूर्य के समान प्रकाशमान् स्वचक्र (ब्रह्मचक्र सुदर्शन) ही कृष्ण के साथ श्री राधा की नित्य लीला दर्शन कराते हैं तभी जीव उस बहुल सुख रूप आत्मरति की अनुभूति करता है। यही रहस्य इस भागवत की कथा में दिखलाया गया है। इसी भागवतीय रहस्य का उद्‌घाटन करने के लिए श्री निंबार्क का प्रादुर्भाव हुआ था। इसी प्रकार श्रीमद्‌भागवत दशम् स्कंध ८७ अध्याय १८वें श्लोक में आरुणि श्री निंबार्क की ब्रह्मसूत्र वाक्यार्थ प्रतिपाद्य हृदय में ब्रह्म की उपासना पद्धति की विशेषता स्पष्ट रूप से कही गई है—

---

"एष सर्वेश्वर एष सर्वज्ञ एषोऽन्तर्याम्येष योनि सर्वस्य प्रभवाप्य योहि भूतानाम्" [यही सर्वेश्वर, सर्वज्ञ, अंतर्यामी और जगत् के कारण हैं]

इस सिद्धांत को श्री निंबार्क ने ब्रह्मसूत्र वाक्यार्थ के चतुर्थ अध्याय में आदि से अंत तक निरूपण किया है। [उसी को सम्यग्रूप से देखें]

**उदरमुपासते य ऋषि वर्त्मसु कूर्पदृशः ।**
**परिसर पद्धतिं हृदयमारुणयो दहरम् ।।**
**तत उदगादनंत तव धाम शिरः परमम् ।**
**पुनरिह यत् समेत्य न पतंति कृतांत मुखे ।।**

[प्रभु ! कुछ स्थूल दृष्टि वाले ऋषियों ने आपकी उपासना (ध्यान) उदर के मणिपूरक चक्र में अग्नि रूप से कही है । (मेधावी) श्री आरुणि ने हृदय के अंतस्तल के दहराकाश में आपकी उपासना पद्धति को कहा है, वस्तुतः वही उत्तम मार्ग है । हृदय से ही शरीर की सभी नाड़ियाँ निकलती हैं, उन्हीं में प्रधान जो सुषुम्ना नाड़ी है, जो कि शिर में ब्रह्मरंध्र तक गई है, उसमें ध्यान कर ऊपर की ओर बढ़ता है वह निश्चित ही जन्म मरण के चक्र में नहीं पड़ता] इस श्लोक की टीका में बहुत स्पष्ट रूप से भागवत के वास्तविक टीकाकार श्रीधर स्वामी ने श्री निंबार्क मुनि के प्रवर्त्तित मार्ग को ही "मुनि वर्त्मभिः" कहकर लिखा है ।[१]

श्री निंबार्क सुदर्शन के अवतार थे ऐसा सभी परवर्त्ती भाष्यकार टीकाकार आदि ने लिखा है । पुराणों में प्रसंग आता है कि वैदिक परंपरा का जब लोप हो रहा था उस समय सनातन वैदिक संप्रदाय व्यग्र था उसको सांत्वना देने के लिए सुदर्शन को भगवदाज्ञा मिली थी कि तुम वैष्णव मार्ग का प्रकाश करो ।[२] नैमिषारण्य के विषय में भी ऐसी ही किंबदंती पुराणों में

---

१. भागवत में उल्लेख्य श्री आरुणि के सिद्धांत को पढ़ने के वाद भी यदि श्री निंवार्क की उपस्थिति १२ वीं सदी में बतलाने की चेष्टा की जावे तो वह एकमात्र हठवाद होगा । श्री निंबार्क के ब्रह्मसूत्र वाक्यार्थ से अक्षरशः इस मत का साम्य है । श्री मद्भागवत ६।१५।१३ में भी श्री आरुणि को उपदेष्टा आचार्य के रूप में कहा गया है ।

२. **सुदर्शन महाबाहो कोटि सूर्य समप्रभ ।**
**अज्ञान तिमिरांधानां विष्णोर्मार्गं प्रदर्शय ।।**

[भगवान ने आज्ञा दी कि, महाबाहु सुदर्शन तुम सहस्रों सूर्य के समान देदीप्यमान हो अतः अपने प्रकाश से इस जगत् के अंधकारमय जीवों का उद्धार वैष्णव मार्ग के प्रदर्शन के द्वारा करो]

इस भगवदीय आज्ञा के अनुसार श्री सुदर्शन जी ने वादरायण के काल में अवतार लेकर वैष्णव मार्ग का प्रदर्शन किया था । इस वात को श्रीनिंवार्क की दशश्लोकी के टीकाकार श्री पुरुषोत्तमाचार्य जी ने अपनी भूमिका में भी स्पष्टतः कहा है—"श्री वासुदेवेन विष्णुना आत्म स्थापित वेद मार्ग संरक्षणाय नियुक्तोनिरतिशयात्मप्रिय आत्म शक्त्युपवृंहितानंतशक्ति स्वहस्त धारको निजायुधः कोटि सूर्य समप्रकाशो भगवान सुदर्शनो अवनितलावतीर्ण तैलगं

मिलती है कि सुदर्शन ने ही उस अरण्य में धार्मिक कथा यज्ञ का प्रारम्भ किया था जो कि लगभग हजार वर्ष तक अनवरत चलता रहा। नैमिषारण्य क्षेत्र के नाम का रहस्य भी यही है कि "जिस अरण्य में सुदर्शन की नेमि (चक्र की फाल) गिरे।"[१] लिखा गया कि "अनुपम चक्र का अनुकरण करो जहाँ यह धर्म चक्र जाकर ठहरे वहीं तुम लोग धार्मिक सम्मेलन करना वही पुण्य क्षेत्र होगा।"[२]

---

द्विजवरात्मना द्रविड देशे नियमानंदाभिदो भगवदीयां सनातनीं कलौ नष्टां सनातनीं वेदांत संततिप्रवर्त्तयिष्यन् शारीरिक मीमांसा वाक्यार्थ रूप वेदांत पारिजात सौरभाख्या ग्रंथ रचना व्याजेन सर्ववेदांत संग्रहेण संदर्भयामास।"

[भगवान वासुदेव विष्णु ने अपने अतिशय प्रिय आयुध अनंत शक्तिमान कोटि सूर्य के समान प्रकाशवान सुदर्शन को आज्ञा दी तो उन्होंने द्रविड़ देशीय तैलङ्ग ब्राह्मण कुल में नियमानंद नाम से अवतार लेकर उपनिषदों की जो सनातन वेदांत परम्परा थी, जो कि कलि में नष्ट प्राय थी उसको पुनः स्थापित करने के लिए ब्रह्मसूत्र के वाक्यार्थ रूप से वेदांत पारिजात सौरभ आदि ग्रंथों की रचना कर उपनिषदों का समन्वय किया]

इस प्रसङ्ग से श्री निंबार्क का द्रविड़ाचार्य होना, ब्रह्मसूत्र वाक्यार्थ के अतिरिक्त अन्य ग्रंथों की रचना और कलि में ही जन्म लेना सिद्ध होता है।

[इस उद्धरण को हम सर्वाधिक प्रामाणिक मानेंगे क्योंकि यह निंवार्क सम्प्रदाय के ग्रंथों में श्री निवासाचार्य के भाष्य के वाद का ही ग्रंथ है। पुरुषोत्तमाचार्य जी प्राचीन आचार्य हैं, इसका विश्लेषण आगे के प्रकरण में करेंगे]

साथ ही यह विशेष रूप से ध्यान देने की वात है कि पुरुषोत्तम जी लुप्त प्रायः प्राचीन वेदांत परम्परा के प्रवर्त्तक श्री निंबार्क को कहते हैं। इससे सिद्ध होता है कि श्री निंवार्क सर्व प्रथम वेदांत सूत्रों के व्याख्याकार हैं। यदि शंकरादि के वाद श्री निंवार्क होते तो वेदांत परम्परा के लुप्त होने की बात कैसे संगत होती ?

१. **प्रेत्यात्र चालयश्चक्रं नेमिः शीर्णोऽत्र पश्यतः।**
**तेनेदं नैमिषंप्रोक्तं क्षेत्रेपरं पावनम्॥**

देवी भा० १।२।३२॥

[भगवान के प्रेरित चक्र की नेमि इस क्षेत्र में गिरी इसलिए वह परं पवित्र नैमिष क्षेत्र हो गया]

२. **अनौपम्यमिदं चक्रं वर्त्तमानमतंद्रिताः,**
**पृष्ठतो यात नियमात् पदं प्राप्स्यथ तद्हितम्।**
**गच्छतो धर्मचक्रस्य यत्र नेमिर्विशीर्यते,**
**पुण्यः स देशो मंतव्य इत्युवाच स्वयं प्रभुः॥**

पद्म पुराण १।१।७-८।

श्री निंबार्क का धर्म चक्र सम्पूर्ण भारत में चला। उन्होंने भारत के अनेक स्थलों पर धार्मिक सङ्गठन केन्द्र स्थापित किए थे। जहाँ-जहाँ भी भारत में चक्रतीर्थ मिलते हैं वे सभी केन्द्र स्थल थे। श्री निंबार्क ने स्वयं अपनी तपोभूमि व्रजमंडल की गोवर्द्धन की उपत्यका ही चुनी थी। प्रधान बात तो यह थी कि व्रजभूमि उनके उपास्य की लीला भूमि थी जिस पर जैनों ने अपना अधिकार जमा लिया था, उस पवित्र भूमि को अपने अधिकार में करने की एक विशेष घटना है, जिसने श्री नियमानंद (आरुणि) को निंबार्क बनाया।[1] श्री निंबार्क धर्मचक्र के प्रवर्त्तक थे अतः उनका वह धर्मचक्र बाद के समन्वयवादी सम्राट अशोक (२७० ई०पू०) का धर्म चक्र बन गया तथा इसी समय से चक्र उपास्य देवता रूप से वैष्णवों के पूज्य हो गए।[2] तंत्र शास्त्र के सभी मन्त्रों के आधार सुदर्शन चक्र ही हुए। संपूर्ण मन्त्र सुदर्शन चक्र के मध्य में लिखकर ही पूजे जाते हैं। महात्मा बुद्ध को विष्णु के अवतारों की पंक्ति में बैठाने वाले भी भगवान बादरायण और श्री निंबार्क

---

"क्षेत्रेऽस्मिन् वैष्णवे" [नैमिशारण्य वैष्णव = विष्णु के सुदर्शन का क्षेत्र है]
भा० १।१।२१

१. आरुणि जी ने गोवर्द्धन के निकट निर्जन स्थल पर एक नीम के वृक्ष के नीचे अपना आश्रम बनाया था। मथुरा जैनों का प्रधान तीर्थ था उस समय के जैनी प्रधान आचार्य मथुरा में ही रहते थे, एक दिन वह आरुणि जी के आश्रम गए और उनसे शास्त्रार्थ किया। शास्त्रार्थ में जैनाचार्य पराजित हुए और शास्त्रार्थ के अनुवंध (शर्त) के अनुसार उन्होंने मथुरा मंडल को छोड़ देने का निश्चय किया। शास्त्रार्थ होते हुए अतिकाल हो गया लगभग रात्रि को बारह बज रहे थे। विवाद की समाप्ति पर आरुणि जी ने भारतीय संस्कृति के अनुसार जैनाचार्य से भोजन करने का आग्रह किया, जैन सूर्यास्त के उपरान्त भोजन करते नहीं अतः आरुणि जी ने स्वकीय कोटि सूर्य समप्रभ सुदर्शन रूप को नीम के वृक्ष के ऊपर प्रकाशित किया और जैनाचार्य का साग्रह आतिथ्य किया। उसी समय से आरुणि, श्री निंबार्क हुए। आज जो स्थल ब्रज में नीम गाँव के नाम से प्रसिद्ध है वहाँ चक्रतीर्थ भी है वह श्री नियमानंद, (नेमानंद) नीमानंद का अपभ्रंश रूप है।

२. नारद पांचरात्र में सुदर्शन चक्र की उपासना मंत्र आदि की विस्तृत विवेचना है।

[नारद पांचरात्र भी पुराणों के समान श्री रामानुज के काल तक संकलित होता रहा है]

नारद पांचरात्र का प्रचार ई० की १०वीं शताब्दी में श्री निंबार्क मतानुयायी उत्पलाचार्य ने किया।

ही थे ।[1] बौद्ध विहार पुरी को जगन्नाथ रूप देकर वैष्णव बनाना चक्रावतार श्री निंबार्क का ही कार्य है, इसलिए जगन्नाथ मन्दिर की शिखर पर स्थित चक्र रूप से उनका दर्शन, पूजन किया जाता है। भगवान के आयुधों में सुदर्शन ही वैष्णव कहे गए अन्य गदा आदि आयुध नहीं, क्योंकि चक्र ने श्री निंबार्क रूप से अवतार धारण कर वैष्णव धर्म की स्थापना की थी। सुदर्शन का नाम कीर्त्तन वैष्णवों की शुद्धि करने वाला माना गया।[2] ईसा मसीह और बुद्ध की चमत्कार पूर्ण लीलाओं में भी सूर्य और सुदर्शन के प्रकाश दिखलाने की कथायें भी रची गई जो कि श्री निंबार्क की अलौकिक लीला का अनुकरण मात्र है। मथुरा से जो भक्ति का प्रवाह चला था वह सदियों तक पूरे उत्तर प्रदेश में व्याप्त रहा, आज भी उत्तर प्रदेश भक्ति प्रधान क्षेत्र है।[3] स्कंद पुराण के अनुसार मथुरा जब वैष्णवों द्वारा बसाया गया तो वहाँ देहली के पूँजी पतियों को राजा विष्णुरात ने भेजा था ततस्तु विष्णुरातेन श्रेणी मुख्याः सहस्रसः। इंद्रप्रस्थात् समानाय्य मथुरा स्थान मापिताः ॥ बौद्धों के प्रधान गढ़ पाटलिपुत्र (पटना) से मथुरा अधिक समृद्धिशाली था, ऐसा

---

१. भागवत १।३।२४ तथा नारद पांचरात्र ४।३।१६५-१५९॥४।८।८१॥ में एवं वैष्णव पुराणों में बुद्धावतार की चर्चा है।

२. **चक्रायुधस्य नामानि सदा सर्वत्र कीर्त्तयेत्।**
**नाशौचं कीर्त्तने तस्य सदा शुद्धि विधायिनः**

[पद्म पुराण पाता० ८४।४५]

[चक्रायुद्ध के नामों को सदा सभी अवस्थाओं में कीर्त्तन करना चाहिए। उनके कीर्तन में कभी अपवित्रता नहीं होती, उनके नाम शुद्ध करने वाले हैं]

३. ई० की चौथी सदी में चीन देश के शेन प्रांत की राजधानी चांगगान निवासी ह्वांगचे की आज्ञा से फाहियान नाम का एक यात्री भारत में बौद्ध धर्म ग्रंथों को लेने के लिए आया था। उसने अपनी यात्रा के विवरण में उत्तर प्रदेश के प्रभावशाली व्यापक वैष्णव धर्म की विशेषता वर्णन की है। वह वैष्णवों के प्रधान केन्द्र मताऊला (मथुरा) में नहीं गया। उसने लिखा है—भारत का सर्वाधिक समृद्ध मध्य प्रदेश (वर्तमान उत्तर प्रदेश) है वहाँ की प्रजा प्रभूत और सुखी है, व्यवहार की लिखा पढ़ी और पंचायत नहीं होती। प्रजा राजा की भूमि जोत कर उपज का अंश देते हैं। सभी को हर जगह रहने का स्वतंत्र अधिकार है। प्राण दंड और शरीर दंड का विधान नहीं है। यहाँ के निवासी जीव हिंसा मद्यपान लहसुन प्याज नहीं खाते। सभी भक्त हैं।"

इसी प्रकार चंद्रगुप्त मौर्य (ई०पू० ३२२) के दरबारी मेगस्थनीज ने लिखा है कि "सौरसेनी" मथुरा में हेरेक्लीज की पूजा होती है जो कि अपने पूर्वज डायोनिसस की पंद्रहवीं पीढ़ी के थे। [महाभारत के अनुसार दक्ष (डायोनिसस) की पंद्रहवीं पीढ़ी में हरे कृष्ण (हेण्क्लीज) हैं]

ई०पू० ३ सदी के प्रसिद्ध विद्वान् पाणिनि के वर्णन से ज्ञात होता है "माथुर पाटलिपुत्रेभ्य आढ्यतराः।" पाणिनि के अनुसार वासुदेव श्री कृष्ण के भक्त वासुदेवक कहलाते थे। महर्षि पतंजलि के अनुसार वैष्णव परिवार के सं पुरुषों को भागवती और भागवत कहा जाता था। गोपालोत्तरतापनीयो पनिषद् मंत्र ३१ के अनुसार "मथुरा नगरी गोपाल के चक्र द्वारा सुरक्षित है इसलिए गोपाल पुरी नाम से प्रसिद्ध है।"

श्री निंबार्क ने ब्रह्म, जीव, मन और अहंकार के प्रतीक वासुदेव संकर्षण, प्रद्युम्न और अनिरुद्ध की उपासना का जो आध्यात्मिक तत्त्व विवेचन किया था और उनकी मूर्त्तियों की उपासना प्रचलित की थी उसका भी उल्लेख गोपालोपनिषद् मंत्र ३४ में किया गया है।[१] इसी चतुर्व्यूहावतार के प्रतीक भगवान राम, लक्ष्मण, भरत और शत्रुघ्न माने गए। श्री निंबार्क स्वयं अनिरुद्ध शत्रुघ्न के अवतार माने गए। बात तथ्यपूर्ण है—सुदर्शन और अहंकार दोनों ही, अनिरुद्ध (न रोके जा सकने वाले) तथा शत्रुघ्न (शत्रुओं का संहार करने) हैं। भगवान श्री निंबार्क ने वैदिक धर्म के विरुद्ध सम्प्रदायों का निराकरण कर जो अप्रतिहत भागवत धर्म स्थापित किया था वह उनके शत्रुघ्न और अनिरुद्धावतार की ही लीला है। उनका प्रेमा भक्ति का सिद्धान्त विश्व के संपूर्ण धर्मों में अनिवार्य रूप से धर्मचक्र के रूप में प्रवेश कर चुका है। श्री निंबार्क के ही समकालीन बौद्ध धर्म के महोपदेष्टा धर्मराज, मैत्रेय थे जिन्होंने हिमालय मार्ग से तिब्बत की ओर जाकर बौद्ध धर्म का प्रचार किया था।[२] श्रीमद्भागवत के उल्लेख्य धर्मराज के अवतार विदुर और मैत्रेय हैं

---

१. वैष्णव उपनिषदों की उत्पत्ति भी संभवतः भागवत काल की ही प्रतीत होती है। भगवान बादरायण व्यास ने ही वैदिक उपासना तत्व के रहस्य को इन उपनिषदों में उद्घाटन किया है।

२. फाहियान ने अपनी यात्रा के विवरण में मैत्रेय के धर्म प्रचार की जनश्रुति का उल्लेख किया है। इन मैत्रेय को भविष्य में होने वाले बुद्ध कहा गया। ये बुद्ध के अवतार ही माने गए। फाहियान ने एक प्रसिद्ध किंवदंती का उल्लेख किया है—"बुद्ध ने एक बार कौंडिन्यादि पंचवर्गी को उपदेश दिया और स्वतः मैत्रेय रूप से होने की भविष्यवाणी की।" "बुद्ध ने पूर्वाभिमुख बैठकर कौंडिन्यादि के साथ धर्म चक्र प्रवर्त्तन किया।" इस प्रसंग से होता है, कि मैत्रेय बुद्ध से कौंडिन्य, आरुणि, विष्णुस्वामी, गर्ग और शांडिल्य आदि पंचवर्ग के साथ वैष्णव मत पर विचार विमर्श हुआ था। मैत्रेय ने आरुणि का धर्मचक्र प्रवर्तन किया था संभवतः इसी आधार पर यह किंवदंती बौद्ध धर्म में प्रचलित हुई है।

[फाहियान यात्रा के उद्धरण काशी नागरी प्राचरिणी सभा से सं० १९७८ में प्रकाशित हिन्दी अनुवाद में संग्रहीत है]

हरिद्वार में हुए सम्मेलन और भागवत तत्व के विवेचन से ज्ञात होता है, कि मैत्रेय भागवत धर्म में दीक्षित हो गए थे और उन्होंने ही सर्व प्रथम भक्तिपूर्ण महायानी बौद्ध धर्म का भारत के बाहर उपदेश दिया।

सुदर्शनावतार श्री निंबार्क ने जो वैदिक धर्म का चक्र चलाया उसे महात्मा बुद्ध की कथाओं के साथ सलंग्न कर उन्हीं को धर्म चक्र का प्रवर्त्तक लिखा गया है। बौद्ध धर्म में जो कथायें गढ़ी गई वो पुराण कथाओं पर आधारित हैं वही शैली वही रूप-रेखा बौद्ध कथाओं की भी है। धर्म चक्र प्रवर्त्तित बुद्ध मैत्रेय ही थे। मैत्रेय को भी बुद्धावतार कहा गया है।"[१]

श्री निबार्क ने ज्योतिष में भी अपना विशेष ही मत स्थापित किया था ऐसा हमको १७वीं शताब्दी के स्मृतिकार श्री कमलाकर भट्ट के प्रसिद्ध ग्रंथ निर्णय सिंधु से ज्ञात होता है।[२] कमलाकर जी ने श्री निंबार्क के ज्योतिर्मत के प्रतिपादन में ब्रह्मवैवर्त पुराण, भविष्य पुराण और पांतजल महाभाष्य तथा हेमाद्रि के प्रमाणों को उद्धरण रूप में प्रस्तुत किया है।[३] इस सिद्धांत

---

१. बौद्ध धर्म को वैष्णव धर्म में समन्वय करने के लिए वैष्णव पुराणों में बौद्ध श्रमणों को वैष्णव लिखा गया इसी प्रकार महायानी बौद्ध सम्प्रदाय ने [जो कि वैष्णव धर्म के प्रभाव से चला था] वैष्णव महात्माओं को बुद्ध संप्रदाय में सम्मिलित होने की गाथायें रचीं।

२. निम्वादित्योपासकास्तु जन्माटमी रामनवमी शिवरात्र्यादो पूर्वेऽह्नि कर्म कालीनां तिथि त्यक्त्वा त्रिद्विमुहूर्त्ता परैव तिथिर्ग्राह्या।

[निंबादित्य जी के उपासकों को जन्माष्टमी आदि व्रतों में पहिले दिन की तिथि का त्याग कर दो तीन मुहूर्त्त बाद की तिथि को मानना चाहिये]

३. हेमाद्रिस्तु (१३वीं सदी) केषांचिदर्धरात्रेऽपि दशमी भेदमाह—अर्ध-रात्रेतु केषांचिद् दशम्याभेद उच्यते। कपालभेदइत्याहुराचार्या ये हरि प्रियाः।

[हेमाद्रि में लिखा है कि—कोई-कोई आधी रात्रि में ही दशमी में वेध मानते हैं जैसा कि—आधी रात में ही वेध मानने वाले हरिप्रिया आचार्य हैं, ऐसा ब्रह्म वैवर्त्त का भी प्रमाण है]

"अनद्यतनेलङ्" इत्यत्र अतीतायाः रात्रे पूर्वयामद्वयं दिवसश्च सकल एषोऽद्य तनः कालः" इत्युक्तं महाभाष्ये।

[अनद्यतनेलङ् इस पाणिनीय सूत्र पर महाभाष्यकार पतंजलि ने लिखा है कि—बीती हुई रात्रि के दो याम तथा आने वाली रात्रि के पहले दो याम का एक दिन होता है, उसे ही अद्यतन (आज का दिन) कहते हैं]

"उदयाव्यापिनी ग्राह्याकुले तिथिरुपोषणे, निंवार्कोभगवान्येषां वांच्छि-तार्थ फलप्रदः।"

भ० पुराण

[उदया तिथि जिन गृहस्थों में मानी जाती है वहाँ भगवान निंबार्क मनोवांछित फल देते हैं।]

निरूपण से यह भी निर्णय हो जाता है कि श्री निंबार्क केवल दार्शनिक आचार्य मात्र न थे अपितु अपनी आलोकिक लीला के कारण वैष्णवों के उपास्य देवता माने गए। श्री निंबार्क के मत में प्रायः रात्रि को १२ बजे ही तिथि परिवर्त्तित हो जाती है। इस मत को परवर्ती ईसाई मतावलम्बियों ने अपना सिद्धांत बनाया उनके यहाँ भी रात्रि को ही तिथि बदल जाती है कमलाकर भट्ट के समय से ही श्री निंबादित्य के इस मत के उपासक कुछ अन्य वैष्णवपंथी भी हो गये। इस परपंथी वैष्णव मत के परिवर्तन में एक विशेष घटना का उल्लेख किया जाता है जिस घटना के फलस्वरूप उत्तर प्रदेशीय वैष्णव पंथियों ने श्री निंबार्क संप्रदाय के संरक्षण में जयपुर के नीम थाना स्थान पर एक संगठन बनाया था और श्री निंबार्क के प्रतिपादित उपासना और ज्योतिष सिद्धांत को स्वीकार किया था, श्री निंबार्क के इस ज्योतिष सिद्धांत के अनुसार वैष्णवों की एकादशी आदि व्रतों का विधान होता है। पुराणों में इस मत की विपुल चर्चा मिलती है। वैष्णव पुराणों में जहाँ कहीं भी अंबरीष और दुर्वासा के द्वादशी व्रत विषयक विवाद की चर्चा आई है वहाँ श्री सुदर्शन द्वारा वैष्णव अंबरीष का पक्ष दिखलाया गया है। वैष्णवी धर्मचक्र के ज्योतिष सिद्धांत को दुर्वासा को बरबस मानना पड़ा है। जैसा कि कमलाकर भट्ट के संदर्भ से ज्ञात होता है कि, श्रीनिंबार्क को पुराणों में हरिप्रिया आचार्य भी कहा गया है। यह नाम, श्रीनिंबार्क की प्रियावतभाव की उपासना के अनुसार सखीभाव से प्रभु की सेवा में उपस्थित रहने का द्योतक है। श्रीनिंबार्क भगवत् सान्निध्य में निरन्तर रहने के कारण रंगदेवी सखी के अवतार माने जाते हैं। रंगदेवी को ही हरिप्रिया सखी कहा गया है। हरिप्रिया श्री कृष्ण की सन्निधि में सदा उपस्थित रहती है।[1]

---

१. पद्मपुराण ४।७०।५-६-७। में इसका रहस्य कहा गया है—

**संमुखे ललितादेवी श्यामला वायु कोणके।**
**उत्तरे श्रीमतीधन्या ऐशान्यां श्री हरिप्रिया॥**
**विशाखा च तथा पूर्वे शैव्या चाग्नौततः परं।**
**पद्मा च दक्षिणे पश्चान्नैऋते क्रमशः स्थिता॥**
**योगपीठे केदाराग्रे चारु चंद्रावली प्रिया।**
**अष्टौ प्रकृतया पुण्याः प्रधानाः कृष्ण वल्लभाः॥**

[हृदय के सूक्ष्माकाशस्थ अष्टदल कमल के मध्य में श्री राधाकृष्ण की युगलमूर्ति सदा विराजती है। उनके "सम्मुख के दल पर ललिता, वायुकोण पर श्यामलता, उत्तर में धन्या, ईशानकोण में हरिप्रिया, पूर्व में विशाखा, अग्निकोण में शैव्या, दक्षिण में पद्मा, नैऋत्य में चंद्रावली क्रमशः विराजती हैं"] ये अष्ट सखियाँ कृष्ण की पृथिवी, जल, तेज, वायु आकाश, मन, बुद्धि और अहंकार आदि आठ

श्रीनिंबार्क के इस सखीभाव के रहस्य का प्रतिपादन पद्मपुराण पाताल खण्ड ८४ और ८५ अध्याय में अर्जुन और श्री नारद की सखी भाव की प्राप्ति के प्रसंग में किया गया है। वृन्दावन लीला में जीव को प्रियावत भाव से ही उपस्थित होना चाहिये यही सखीभाव का रहस्य है।

---

प्रकृति की प्रतीक हैं। हरिप्रिया, रंग देवी अहंकार की प्रतीक हैं, यही श्री निंबार्क हैं। योगदर्शन के अनुसार अष्टदलकमल के आठदल पद्मा आदि प्रधान आठ नाड़ियाँ हैं, मध्य में सुषुम्ना नाड़ी है। श्री निंबार्क के मतानुसार सुषुम्ना श्री राधा हैं। ललिता पिंगला नाड़ी है तथा रंगदेवी इड़ा नाड़ी। पिंगला चंद्र नाड़ी तथा इडा सूर्य नाड़ी है। चंद्र नाड़ी पोषण करती है तो इड़ा नाड़ी उन्मीलन (प्रेरणा) करती है। "उन्मीलनी तु सा ज्ञेया विशेषेण हरिप्रिया" पद्मपुराण, ६।३६।३४। [उन्मीलनी को ही हरिप्रिया समझना चाहिए] निंबादित्य ही उपासक भक्तों को भागवत तत्त्व का उन्मीलन करने वाले हरिप्रिया आचार्य हैं। "अज्ञान तिमिरांधानां विष्णोर्मार्गं प्रदर्शय" अर्थात् "अज्ञानान्धकार से अंध प्राणियों को वैष्णव मार्ग को प्रकाशित करो" सुदर्शन को दी गई भगवदाज्ञा का भी यही रहस्य है—

**"अज्ञान तिमिरांधस्य ज्ञानांजन शलाकया।**
**चक्षुरुन्मीलितं येन तस्मै श्री गुरवे नमः॥**

[अज्ञानांधकार से आवृत्त अंतःकरण के नेत्रों को जो अपने ज्ञान शलाका से खोल दे उस गुरु को नमस्कार है] इस गुरु वंदना में भी हरिप्रिया आचार्य इडा को नमन किया गया है। परमाचार्य श्रीनिंबार्क द्वारा प्रकाशित उपासना मार्ग से ही अज्ञानाच्छादित हृदय की वासना की गाँठ फूठ जाती है, जीव के सारे संशय दूर हो जाते हैं और शुभाशुभ कर्म क्षीण होकर भगवद्भाव प्राप्ति रूप मुक्ति हो जाती है। इस मुक्ति को ही जीव का उन्मीलन (विकास) कहते हैं—

**भिद्यते हृदय ग्रंथिश्छिद्यंते सर्व संशयाः।**
**क्षीयंते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे॥** मुं० २।८।

इस प्रकार हृदय की संपूर्ण कामनाओं के भेद हो जाने पर जीवात्मा अमर हो जाता है और उसे ब्रह्म की समता प्राप्त हो जाती है।

**यदा सर्वे प्रमुच्यंते कामा येऽस्य हृदिस्थिताः।**
**अथ मर्त्योऽमृतोभवति अत्रब्रह्म समश्नुते॥** कठो० ३।१४।

यही नित्य वृन्दावन के नित्य विकसित (उन्मीलित) निकुंज की लीला है, इसी में अष्ट सखियों और उनकी सहायक सखियों का सदा प्रिया प्रियतम श्री राधाकृष्ण के सात रहस होता है। इसी का प्रकाश श्री हरिप्रिया आचार्य ने किया है। इसे ही प्रेमा परा भक्ति का सिद्धांत कहा है। हृदय के वृन्दावन में नित्य नूतन किशोर श्याम सुन्दर के ही ध्यान का विधान किया गया है और उसे ही परं रस कहा गया है—

श्री निंबार्क अपने काल में प्रचलित पाशुपत वीर शैवमत का निराकरण ब्रह्म सूत्र वाक्यार्थ में २।२।३७ से २।२।४१ तक करते हैं। मत का निराकरण करके शिव का जो अविरुद्ध रूप भागवत संप्रदाय ने उपस्थित किया वह बड़ा अनूठा है। स्वयं शिव को वैष्णाचार्य बनाकर उन्हीं के मुख से संपूर्ण वैष्णव तंत्र और उपासना का व्याख्यान पुराणों और संहिताओं में कराया गया है। वीर शैवमत लिंगायत संप्रदाय के उपासक श्मसान भस्म धारण करते थे तथा गले में शिवलिंग की मूर्ति लटकाकर चलते थे। उसका समन्वय भी स्वयं निंबार्क ने किया। वे कंठ में श्री सर्वेश्वर की शालग्राम विग्रह धारण करते थे तथा गोपी चंदन का ऊर्ध्व पुण्ड्र मस्तक पर लगाते थे। इतना ही नहीं ब्रह्म वैवर्त्त पुराण ४।३९।१३ में तो इस वैष्णव संप्रदाय में दीक्षित शिव को ही दिखला दिया गया—[दंडी छत्री दीर्घवासा विभ्रत्तिलकमुत्तमं, करे स्फटिक माला च शालग्रांम गले दधत्] त्रिशूलधारी श्मशान भस्मस्नात रुद्राक्षधारी भगवान शंकर को वैष्णवाचार्य बनाने का अद्‌भुत कार्य आरुणि आदि परम भागवतों का ही है।[1] श्री निंबार्क सर्वेश्वर ब्रह्म के उपासक थे।

स्वामी शंकर्राचार्य भी इस वैष्णवीकरण से प्रभावित रहे उन्होंने अपने शारीरिक भाष्य में कई स्थलों पर शालग्राम की उपासना को ही महत्व दिया है।

"एवमणीयस्त्वादि गुणोपेत ईश्वरस्तत्र हृदय पुण्डरीके निचाय्यो दृष्टव्य उपदिश्यते यथा शालग्रामे हरिः।" सू० १।२।७।।

---

**[ध्येयं कैशोरकं रूपं, ध्येयं वृन्दावनं वनम्।**
**श्याममेव परं रूपं आदिदेवं परो रसः ।।]**

प०पु० ५।७०।५५

वृन्दावन रस के ध्यान से अन्तःकरण शुद्ध हो जाता है प्रेमपूर्ण ब्रह्म के सुख में मग्न होने से हृदय में ब्रह्मरूप का उन्मीलन होकर तन्मयता हो जाती है।

**शुद्ध सत्त्वैः प्रेमपूर्णैः वैष्णवैस्तद्‌वनाश्रितं।**
**पूर्ण ब्रह्म सुखे मग्नं स्फुरत्तन्मूर्त्ति तन्मयम्।**

प० पु० ५।६९।६३

१. संभवतः इसी आधार पर पाश्चात्य और उनसे प्रभावित साहित्यान्वेषकों ने शंकर को अनार्यों का देवता तथा शंकर के उपासकों को अनार्य तथा वैष्णवों द्वारा किये गये वैष्णवी परिवर्तन को सभ्यों की आर्य उपासना कहा है। वैसे वैष्णवी पुराणों और परवर्ती वैष्णावाचर्यों ने शैवाचार को अनार्य आचरण कहा है।

"जीवपुर एक अस्मिन् ब्रह्म सन्निहितमुपलक्ष्यते । यथा शालग्रामे विष्णु सन्निहित इति तद्वत्" । सू० १।३।१४।।

"प्रतीक दर्शनमिदं विष्णु प्रतिमान्यायेन भविष्यति" सू० ४।१।३०।।

[अणीयत्व, विभुत्व आदि गुणों से संपद्य ईश्वर ही हृदयस्थ सूक्ष्माकाश के पुण्डरीक में विराजमान हैं, उन्हीं की उपासना का उपदेश उपनिषद् और आचार्य देते हैं। जैसे कि शालग्राम की मूर्ति में हरि का निवास है वैसे ही हृदय में ईश्वर का निवास है]

[जिस प्रकार शालग्राम की मूर्ति में विष्णु की सन्निधि मानी जाती है वैसे ही जीवपुर इस मानव देह में ब्रह्म का निवास माना जाता है]

[विष्णु की प्रतिमा में जैसे उपासना करने का विधान है, उसी प्रकार यही प्रतीकोपासना है]

## शंकराचार्य और द्वैताद्वैत

इस संदर्भ से ज्ञात होता है कि श्री शंकराचार्य वैष्णवों की उपासना से पूर्ण प्रभावित थे तथा जीव और ब्रह्म में द्वैताद्वैत संबंध उपास्य उपासक भाव से स्वीकार करते थे । उन्होंने विष्णु सहस्रनाम भाष्य १४।१ में स्पष्ट रूप से वैष्णवी उपासना को कर्त्तव्य कहा है—

"इत्यादि वचनै वैष्णवलक्षणस्यैवं प्रकारत्वाच्च हिंसादि रहितेन विष्णोः स्तुति नमस्कारादि कर्त्तव्यम्" [गीता विष्णु पुराणादि के वचनों से सिद्ध होता है कि वैष्णवी संस्कारों से युक्त हिंसा आदि से रहित होकर विष्णु की स्तुति नमस्कार आदि से उपासना करनी चाहिये]

सू० १।१।२ में ब्रह्मेश काल आदि के नियंता को श्री निंबार्क ब्रह्म कहते हैं इसी प्रकार शंकर वि० स० भा १६।२३ में केशव का अर्थ भी इसी प्रयोजन से करते हैं—"कश्च अश्च ईशश्च त्रिमूर्त्तयः केशास्ते यद्वशेन वर्त्तन्ते स केशवः" [क = ब्रह्मा, अ = विष्णु, ईश = महादेव । ये तीनों जिसके वश में हों वह केशव है] श्री निंबार्क ने एकेश्वर वाद का प्रतिपादन करते हुए ब्रह्म श्री कृष्ण को ही सर्वेश्वर कहा है, श्री शंकर भी उसी भाव से "सर्वेषामीश्वरानामीश्वरः सर्वेश्वर" [सभी ईश्वरों के ईश्वर सर्वेश्वर हैं][1]

---

१. ई०पू० २ सती के नारायण वाटिका के अवशेष चित्तौड़ राजस्थान के निकट मिले हैं उसके एक शिलालेख में वासुदेव श्री कृष्ण को सर्वेश्वर लिखा है । ये पुष्यमित्र शुंग काल के ध्वंसावशेष हैं । पुष्यमित्र शुंग भागवत था । इससे प्रतीत

वि० स० ना० भा० २४।९६। ऐसा कहते हैं।

इसी प्रकार वि० स० ना० भा० २५।१११ में शंकर जी हृदयस्थ ब्र
को ही पुण्डरीकांक्ष कहते हैं—"हृदयस्थं पुंडरीकमश्नुते व्याप्नो
तत्रोपलक्षित इति पुंडरीकांक्षः।"

इस विवेचना से ज्ञात होता है कि श्री शंकराचार्य वासुदेव श्री कृ
पुरुषोत्तम को ही ब्रह्म मानते थे, जीव को ब्रह्म के अधीन मानते थे।

गीता के प्रतिपाद्य भगवद्भावापत्ति मोक्ष को ही श्री निंबार्क जी
माना है। स्वामी शंकराचार्य भी अद्वैत वादी होते हुए भी उस सिद्धांत क
अस्वीकार न कर सकै—जैसा कि शांकर भाष्य गीता ८।५ से ज्ञात होत
है—

"अंतकाले च मरणकाले माम एवं परमेश्वरं विष्णुं स्मरन् मुक्त्व
परित्यज्य कलेवरं शरीरं यः प्रयाति गच्छति स मद्भावं वैष्णवं तत्व याति
विद्यते अत्र अस्मिन् अर्थे संशयो याति वा न वा इति।"

[जो पुरुष मरणकाल में मुझ परमेश्वर विष्णु का ही स्मरण करत
हुआ शरीर छोड़ कर जाता है, वह मेरे भाव को अर्थात् विष्णु के परम स्वरू
को प्राप्त होता है। इस विषय में "प्राप्त होता है या नहीं" ऐसा कोई संश
नहीं है।]

श्री निंबार्क की प्रतिपाद्य दासवत भाव की उपासना को भी श्री शंक
जी ने स्वीकार किया है—

"ब्रह्मणि ईश्वरे आधाय निक्षिप्यं तदर्थं करोमि इतिभृत्य इव
स्वाम्यर्थं सर्वाणि कर्माणि मोक्षे अपि फले संगं त्यक्त्वा करोति यः सर्वकर्माणि
लिप्यते न स पापेन संबध्यते पद्मपत्रम् इव अम्भसा उदकेन।"

["स्वामी के लिये कर्म करने वाले नौकर की भाँति मैं ईश्वर के लिये
करता हूँ," जो इस भाव से सब कर्मों को ईश्वर में अर्पण करके यहाँ तक की
मोक्ष रूप फल की भी आसक्ति छोड़कर कर्म करते हैं। जैसे कमल का पत्ता
जल में रहकर भी उससे लिप्त नहीं होता, वैसे ही वे पापों से लिप्त नहीं
होते।]

## द्वैताद्वैत और अन्य मत

श्री निंबार्काचार्य ने जीव, जगत, ब्रह्म और माया के विषय में विचार

---

होता है कि श्री आरुणि एवं विष्णु स्वामी द्वारा जो सर्वेश्वर की उपासना ई०पू० ४
सदी में चलाई गई थी उसे सदियों तक संप्रदाय के आचार्यों द्वारा लोग प्राप्त करते
रहे हैं। श्री शंकर के काल तक वह निरंतर परंपरया चलती रही।

व्यक्त किये हैं। उनसे और अन्य परवर्त्ती आचार्यों के मत से कोई विरोध नहीं है, विचारों में बड़ा सामंजस्य है। सभी के मत से जगत की सृष्टि स्थिति और लय का कर्त्ता एक अद्वितीय ब्रह्म है। जीव और जगत उस ब्रह्म के अंग और अंश विशेष हैं। ब्रह्म स्वरूपतः चिदानंद रूप, मायाशक्ति युक्त, सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान और सर्वाश्रय है। ब्रह्म की ही अंगीभूत माया के द्वारा, उसी के स्वरूपगत आनन्द के उपादान से यह दृश्यमान जगत् नाम और रूप से प्रकाशित है। जीवात्मा, ब्रह्म के ही चिदंश का प्रकार भेद है, इसलिए ज्ञ (ज्ञाता = दृष्टा) है। जीव और जगत् ब्रह्म के ही अंश होने के कारण तथा ब्रह्म दोनों का आश्रय है। इसलिए ब्रह्म निर्गुण और सगुण दोनों प्रकार से वर्णन किया गया है। ब्रह्म विभु स्वभाव और सर्वव्यापी है। जीव और जगत उसके व्याप्य हैं। इसीलिये जीव का ब्रह्म के साथ भेदाभेद संबंध है। जीव जगत और ब्रह्म में अत्यंत भेद है और न अत्यंत अभेद।

श्री निंबार्क ब्रह्मसूत्र २।३।४२-४३—४४ में जीव को ब्रह्म का अंश कहते हैं। ब्रह्मसूत्र २।३।१६-१७-१८ में जीव को अजर, अमर और ज्ञाता बतलाते हैं। ब्रह्मसूत्र २।१।२१-२२ में परमात्मा को जीव का अंशी होते हुए भी निर्दोष और जीव से श्रेष्ठ बतालाते हैं।

ब्रह्मसूत्र २।३।१९ में जीव को अणु परिमाण वाला बतलाते हैं।

ब्रह्मसूत्र २।२।३४-३५ में जीव के अणु परिमाण में वृद्धि और क्षय नहीं होता ऐसा कहते हैं।

श्री शंकर ब्रह्मसूत्र २।३।४३ में "भेदाभेदावगमाभ्यांमशत्वावगमः"

अर्थात् ब्रह्म और जीव में भेदाभेद संबंध है इसलिये जीव ब्रह्म का अंश है ऐसा समझ में आता है [पूर्वाचार्यों ने भेदाभेद संबंध कहा है इसलिए अंश है जीव]

ब्रह्मसूत्र २।३।४४ में "अंशः पादोभागः" अर्थात् परमात्मा का पाद संपूर्ण स्थावर जंगम है इसलिये पाद शब्द से जीव ही सिद्ध होता है [वेद में विश्व को ब्रह्म का अंश कहा है]

ब्रह्मसूत्र २।३।४५ में "तस्मादप्यंशत्वावगमः "अर्थात् गीता में श्री कृष्ण जी जीव को अपना अंश कहते हैं इसलिये भी जीव ब्रह्म का अंश ही ज्ञात होता है।

ब्रह्मसूत्र २।३।१६-१७-१८ में जीवात्मा को अजर अमर कहते हैं।

ब्रह्मसूत्र २।१।२२ में "जीवादधिकं ब्रह्म दर्शयति" अर्थात् जीव से अधिक ब्रह्म प्रतीत होता है।

ब्रह्मसूत्र ३।२।२७-२८ में भेद और अभेद को बतलाने वाले श्रुति वाक्यों को सही बतलाते हुए—"उभय व्यपदेशादहि कुडंलवदत्रतत्वं भवितुमर्हति "अर्थात् ब्रह्म और जीव दोनों में द्वैत अद्वैत संबंध को कहा गया है, इसलिये सर्प के कुंडलाकार और फैलाव के समान द्वैताद्वैत संबंध हो सकता है। "भेदव्यपदेशभाजौ भवत एवमिहापीति नात्यंतभिन्नावुभावपि" अर्थात् सर्प के कुंडलाकार और फैलाव में जैसे अत्यंत भिन्नता नहीं है वैसे ही जीव और ब्रह्म में अत्यंत भेद और अभेद नहीं है।

श्री रामानुज ब्रह्म २।३।४२ में "एवमुभयव्यपदेश मुख्यत्व सिद्धये जीवोऽयं ब्राह्मणेऽश इत्युपगंतव्य:" [जीव और ब्रह्म दोनों का भेद और अभेद संबंध कहा गया है, इसलिए जीव ब्रह्म का अंश सिद्ध होता है।]

ब्रह्मसूत्र २।३।४३ में "मंत्रवर्णाच्च ब्रह्मणोंऽशो जीव: [वैदिक मंत्र के वर्णों से भी जीव ब्रह्म का अंश सिद्ध होता है।]

ब्रह्मसूत्र २।३।४४ में "जीवस्य पुरुषोत्तमांशत्वं स्मर्यते, अतश्चायमंश:"

[गीता में जीव ब्रह्म का अंश कहा गया है इसलिये भी जीव ब्रह्म का अंश है] ब्रह्मसूत्र २।३।४५ में भी जीव का अंशत्व सिद्ध करते हैं।

ब्रह्मसूत्र २।३।१७-१८ में "नातमा उत्पद्यते—" "आत्मनो नित्यत्वं"—"आत्मा ज्ञातृत्व स्वरूप एव" इत्यादि वाक्यों से जीव की नित्यता, अमरता और ज्ञातृत्व कहते हैं।

ब्रह्मसूत्र २।३।१९ में "नायं सर्वगत: अपितु अणुरेवायमात्मा" [जीव सर्वगत नहीं है इसलिये अणु है]

श्री मध्व—ब्रह्मसूत्र २।३।४२ में "अंश एव ही मे जीवाश्चांशी हि परमेश्वर:"—"अंशोह्येष परस्यभिन्नं"—"अयमभेदेन च गीयते"—"अतश्चांशत्वमुद्दिष्टं"

[ये सारे जीव अंशी परमात्मा के अंश हैं—ये अंश परमात्मा से भिन्न हैं—जीव और ब्रह्म का अभेद भी कहा गया है—इसलिये भेदाभेद रूप से अंशत्व का ही प्रतिपादन किया गया है अर्थात् दोनों में अत्यंत भिन्न अभिन्नता नहीं है]

ब्रह्मसूत्र २।३।४३ में "पावोऽस्य विश्वाभूतानि:" [जगत और जीव ब्रह्म के एक पाद (अंश) मात्र हैं]

ब्रह्मसूत्र २।२।२७ में—"आनंदं ब्रह्मणो विद्वान्" "अथैष एव परमात्मानंद इत्युभय व्यपदेशात्" [ब्रह्म के आनंद को जानकर जीव आनंदी

होता है, यह जीव ही परमानंद है, इस प्रकार के भेदाभेद वर्णन से जीव का अंश होना सिद्ध होता है, जीव परमात्मा के अधीन है ऐसा निश्चत होता है]

ब्रह्मसूत्र २।३।२१ में "नाणुजीव इति चेन्न" [जीव अणु नहीं है ऐसा नहीं कह सकते अर्थात् जीव अणुरूप ही है]

श्री वल्लभ—ब्रह्मसूत्र २।३।४२ में "जीवो नाम ब्रह्मणोंऽशः" [जीव ब्रह्म का अंश है]

ब्रह्मसूत्र २।३।२२ में "स्वशब्दोऽणुपरिमाणं जीवं बोधयति" [स्व शब्द के अणुपरिमाण वाले जीव का बोध होता है]

शुद्धाद्वैत मार्तंड—"आग्नेर्यथा विस्फुलिंगाः तथा जीवोद्गमः स्फुटः"

[अग्नि से जैसे चिनगारियाँ निकलती हैं वैसे ही ब्रह्म का अंश जीव है]

अणुभाष्यप्रकाश सू० २।३।५३ में परमात्मा का भिन्नाभिन्न रूप स्वीकार किया है—

**"परमात्मा जगत् रूपी सर्वसाक्षी निरंजन।**
**भिन्नाभिन्नस्वरूपेण स्थितोऽसौ परमेश्वरः ।।"**

इत्यादि स्मृति शतादपि भेदाभेदयोर्विरोधोऽप्रमाणिक इति—

[परमात्मा ही जगत रूप से सबका का साक्षी है वही भेदाभेद रूप से सबमें स्थित है—इत्यादि सैकड़ों स्मृति प्रमाण हैं इसलिये भेदाभेद को अप्रामाणिक नहीं कह सकते।

श्री निंबार्क—ब्रह्मसूत्र ३।२।२७ में "विश्वं ब्रह्मणि स्व कारणे भिन्नाभिन्न संबंधेन स्थातुमर्हति भेदाभेद संबंधादहिकुंडलवत्"

[सम्पूर्ण जगत अपने कारण ब्रह्म में भिन्न-भिन्न संबंध से रहता है, जैसे कि सर्प की कुंडली और फैलाव में भेदाभेद है]

ब्रह्मसूत्र २।१।१४ में "कार्यस्य कारणनन्यत्वमस्ति, नत्वत्यंत भिन्नत्वम्"

[कारण और कार्य ब्रह्म और जगत में अत्यंत भिन्नता या अत्यंत अभिन्नता नहीं है]

श्री शंकर—ब्रह्मसूत्र १।२।३ में "परमेश्वर एव भूत योनिर्नेतराविति गम्यते।"

[परमेश्वर ही जगत का कारण है अन्य नहीं हो सकता]

इनके मत से अंतरालवर्त्ती ब्रह्मस्वरूप की व्यापकता न मानकर

जागतिक पदार्थों को स्वतंत्र, स्वाधीन, स्वत: सिद्ध समझ कर अपने कार्य में लाना ही जगत की मिथ्यता है। यह वैष्णवों का अनासक्त कर्म योग का सिद्धांत है। श्री शंकराचार्य जी परम वैष्णवाचार्य थे।

श्री रामानुज—ब्रह्मसूत्र ३।२।२७-२८-२९ में—"अस्याचिद्वस्तुनो ब्रह्मरूपत्वं जीवस्येव विशेषण विशेष्य तयांशांशि भावेन—"अचित प्रपंचस्य ब्रह्मणो रूपत्वम्-अचिद्वस्तुनश्च ब्रह्म प्रत्यंशत्वम्।"

[सारे जड़ पदार्थ भी ब्रह्म रूप हैं, जीव और ब्रह्म तथा जगत और ब्रह्म तथा जगत और ब्रह्म में विशेषण और विशेष्य रूप से अंशाशी भाव है, इसलिए संपूर्ण जगत ब्रह्म का ही अंश है]

श्री बल्लभ-ब्रह्मसूत्र ३।२।२७ तथा २९ में—"ब्रह्म तूभयरूपं उभय रूपेण निर्गुणोत्वेनानंत गुणत्वेन सर्व विरुद्ध धर्मेण रूपेण व्यपदेशात्" "उभयमपि सूत्रकारस्य संमतमिति"

[ब्रह्म सगुण और निर्गुण दोनों है, उसकी निर्गुणता तथा जगत् के रूप में अनंत गुणता दोनों ही कही गई है दोनों रूप ही सूत्रकार बादरायण को मान्य थे]

शुद्धाद्वैत मार्तंड में बल्लभ "तिरोधानं हरीच्छातो निबंधादिषु वर्णितुं। आविर्भावि तु तत्सर्वं ब्रह्मवेति न संशयः।" "रमणार्थमिदं सर्वं ब्रह्मैव स्वेच्छयाभवत।"

[जगत का आविर्भाव और तिरोभाव प्रभु की इच्छा से उन्हीं में होता रहता है ब्रह्म अपनी इच्छा से जगत को रमण के लिए रचते हैं]

रामानुज का श्री भाष्य निंबार्क के वाक्यार्थ का अनुकरण करता है। निंबार्क के वाक्यार्थ का विस्तार जो श्री निवासाचार्य ने किया है उससे और श्री भाष्य से बड़ा साम्य है। श्री भाष्य का प्रतिपाद्य विषय, मीमांस्य श्रुति वाक्य, उनका समन्वय, परमत निराकरण प्राय: श्री निंबार्क के मतानुसार ही है। श्री निंबार्क ने पुरुषोत्तम वासुदेव श्री कृष्ण को परब्रह्म कहा है तथा ब्रह्म की स्वरूपशक्ति और गुणशक्ति की संयुक्तरूप पराशक्ति श्री राधा श्री कृष्ण के वामांग में विराजकर नित्य सम्बन्ध स्थापित किया है [श्री राधा की उपासना श्री निंबार्क ने ही प्रकट की है] श्री रामानुज वासुदेव श्री कृष्ण को विष्णु रूप से ही उपास्य मानते हैं। उनके मत में स्वरूपशक्ति लक्ष्मी तथा गुणशक्ति सरस्वती हैं। इन्हें ही वे श्रीशक्ति और भूशक्ति कहते हैं। श्री निवासाचार्य ने श्री शक्ति रूक्मणी और भूशक्ति सत्यभाभा को माना है। इसे श्री रामानुज भी स्वीकार करते हैं। श्री निवास जी चिदचिद् शक्ति विशिष्ट ब्रह्म विष्णु को मानते हैं। ऐसा ही श्री मध्वाचार्य जी का है। श्री

वल्लभाचार्य जी ज्ञानशक्ति और क्रियाशक्ति से पुष्ट श्री कृष्ण को ब्रह्म कहते हैं।

श्री शंकराचार्य जी ईश्वर तत्त्व एवं धर्म तत्व दोनों का सामंजस्य करते हैं जो कि स्वरूपशक्ति और गुणशक्ति का प्रकारांतर मात्र है। श्री शंकर के मत से जो निर्गुण तथा ज्ञान स्वरूप है, वही व्यावहारिक भाव में सगुण, सक्रिय, सर्वज्ञ सृष्टि, स्थिति और लय का कर्त्ता उपास्य का उच्चतम आदर्श है। ईश्वर एवं धर्म तत्त्व के द्वारा, विवेक, वैराग्य, शम, दम, तितिक्षा और उपरति आदि छः साधनों के बाद ब्रह्म तत्त्व की जिज्ञासा होती है।

श्री निंबार्क के मत से किसी गुण विशिष्ट गुणों के साथ उसके गुण का जो स्वगत भेदाभेद संबंध है, वही ब्रह्म जगत का है। ब्रह्म विश्व की आत्मा है उसी को जानने की जिज्ञासा होती है।[१] वही जगत का उपादान कारण और निमित्त कारण हैं।[२] इसीलिए भिन्न अभिन्न है। ब्रह्म ही एकमात्र परतम तत्व हैं। यह जगत ब्रह्म की अपेक्षाकृत स्थूल और अनुभव योग्य साकार अभिव्यक्ति है। जगत के तीन उपादान कारण हैं—(i) चैतन्य (ii) गति या शक्ति (iii) जड़। जड़ शक्ति की ही परिणति है और शक्ति चैतन्य का रूपांतर है।[३] श्री निंबार्क ने सृष्टि के विभिन्न पदार्थों का सृष्टा (परमात्मा) का रूप बतलाकर यह सिद्ध किया है कि किसी के प्रति द्वेष, संघर्ष, हिंसा आदि की भावना करना मानो परमात्मा के प्रति ही द्वेष आदि करना है। यह प्रभु के प्रति महान् अपमान करना है। पवित्र हृदय और निरहंकार होकर जीवमात्र को परमात्मा का अंश मानते हुए समत्वभाव मानना चाहिये, इसी से पवित्रता और आत्मशांति मिल सकती है। यह मत दर्शन की दृष्टि से उच्चकोटि का दर्शन है। अद्वैतवाद ज्ञानतांत्रिक दर्शन

---

१. "सर्व भिन्नाभि नो भगवान वासुदेवो विश्वात्मैव जिज्ञासा विषय।"
सू० १।१।४।

२. प्रकृतिरूपादान कारण चकारान्निमित्त कारण च परमात्मैव।"
सू० १।१।१३।।

३. आज के वैज्ञानिक 'जड़ गति की परिणति है" इसे सिद्ध कर चुके हैं। जैसी गवेषणा चल रही है उससे ज्ञात होता है कि निकट भविष्य में गति चैतन्य का रूपांतर है ऐसा भी सिद्ध हो जावेगा। वर्तमान समय की वैज्ञानिक प्रगति से प्रतीत होता है कि द्वैताद्वैत दर्शन वैज्ञानिक प्रणाली वद्ध प्रमाणों के ऊपर प्रतिष्ठित हो जावेगा। भागवत के आदिम श्लोक में इस वैज्ञानिक तथ्य को "तेजोवारिमृदां यथा विनिमयो यत्र त्रिसर्गो मृषा" कहकर इस जगत को ब्रह्म का विनिमय (परिणाम) सिद्ध किया गया है।

(Idialistic Metaphysics) की अंतिम बात है तो द्वैताद्वैत दर्शन वस्तु तांत्रिक दर्शन (Realisistic Metaphysics) की शेष बात है।

श्री शंकर को भी आदर्श से वास्तविकता की ओर झुकना पड़ा है और उन्होंने भी व्यावहारिक रूप से द्वैताद्वैत को स्वीकार किया है। वे भी इस वैज्ञानिक तथ्य को स्वीकार करते हैं "जड़ गति (शक्ति) की परिणति है तथा शक्ति चैतन्य का रूपांतर।" उन्होंने ब्रह्मसूत्र १।४।२३-२४-२५ में—"प्रकृतिश्च उपादान कारणं च ब्रह्माभ्युपगंतव्यम् निमित्त कारणं च न केवल निमित्त कारणमेव—साक्षात् ब्रह्मैव कारणवुपादायोभौ प्रलय प्रभवाम्नायेते।" [प्रकृति (गति) जड़ की उपादान कारण है, चैतन्य निमित्त कारण है, परन्तु चैतन्य केवल निमित्त कारण मात्र नहीं है वह उपादान कारण भी है, इसलिये वह सृष्टि के रूप में स्वयं ही परिणत हो जाता है तथा सृष्टि को स्वयं ही अपने में विलय कर लेता है] श्री शंकर वृहदारण्यक भाष्य में लिखते हैं कि "जगत को यदि नाम रूपात्मक नहीं मानेंगे तो ब्रह्म भी अज्ञेय हो जावेगा" [यदि हि नामरूपे न व्याक्रियते, ब्रह्मणो प्रज्ञानघनाख्यां रूपं न प्रतिक्षायेत्] इस प्रकार जगत को ब्रह्म से भिन्न नहीं किया जा सकता ऐसा करने से ब्रह्म शून्य अर्थात् A stract Impty Principle हो जावेगा। नाम रूप कभी चैतन्य से रहित नहीं हो सकता उसके मूल में चैतन्य का सम्बन्ध अवश्य मानना पड़ेगा।

श्री निंबार्क ने निष्कामकर्म रूपी वैराग्य को ही साधनावस्था माना है जो कि भगवदाश्रय से साध्य है। भक्ति से ही कर्म और ज्ञान को पोषण तत्त्व प्राप्त होता है। भक्ति द्वारा अंतःकरण का जो द्रवत्व है, वही रसस्वरूप ब्रह्मानुभूति है। किसी भी क्रिया में प्रेम और ज्ञान दोनों की संगति आवश्यक है। भक्ति की साधना द्वैतभाव की द्योतक है और ज्ञान साधना अद्वैत भाव की। इस त्रैविध्य उपासना से निस्त्रैगुण्य भाव की स्थिति होती है। श्री निंबार्क के इस तथ्य को श्री जीव गोस्वामी ने अपने "भागवत संदर्भ" और "परमात्म संदर्भ" में तथा श्री बलदेव विद्याभूषण ने अपने "गोविन्द भाष्य" में अचिंत्य भेदाभेद के रूप में व्यक्त किया है।

इस प्रकार सभी वेदांतचार्यों के विचारों को मनन करने के बाद कोई भी विचारक निष्पक्ष रूप से इस निष्कर्ष पर पहुँच सकता है कि सभी ने एक ही तथ्य की बात कही है, किसी में कोई विरोध नहीं है। किसी भी आचार्य के मत को गलत कहना उन आचार्य का पूर्ण अपमान है और मस्तिष्क का खोखलापन है। सभी आचार्यों की विचार शैली विलक्षण है, सभी साध्य और साधन तत्त्व पर एकमत हैं।

## तृतीय अध्याय

# साधन सिद्धांत

भगवान श्री निम्बर्काचार्य जी ने मोक्ष प्राप्ति के लिये ब्रह्म की साधना प्रवर्त्तित की है। इनके मत से अमूर्त्त उपासना की अपेक्षा प्रकाशित मूर्त्तरूप की उपासना जीव के लिये अधिक कल्याणकारी और सहज है। अतएव साधक को सत्वगुणाधिपति भगवान श्री कृष्ण की युगल मूर्ति की उपासना का ही विधान किया है।

आचार्य चरण ब्रह्म का स्वरूप चतुष्पाद कहते हैं। दृश्य स्थानीय अनंत संसार ब्रह्म का प्रथम चरण है। विश्व के संपूर्ण पदार्थों को विभिन्न रूपों से देखने वाला जीवात्मा द्वितीय चरण है। अनंत जागतिक पदार्थों का नित्य दृष्टा ईश्वर तृतीय चरण है। इन तीनों से विशेष नित्य, एकरस आनंदमात्र का अनुभव करने वाला अक्षर ब्रह्म चतुर्थ चरण है। इस सिद्धांत के अनुसार दृश्यमान संपूर्ण विश्व और अनंत जीव समूह दोनों ही मूलतः ब्रह्म हैं। इन दोनों से अतीत स्वरूप ब्रह्म ही जगत का उपादान कारण है। जगत और जीव उस ब्रह्म के अंशमात्र हैं। इसलिए अंश और अंशी में भेदाभेद सम्बन्ध है। ब्रह्म अपने चिदंश के द्वारा आनंद का उपभोग करता है उसका स्वरूपगत आनंद भूमा है।[१] इस आनन्द की प्राप्ति ही मुक्ति है। साधक को साधना द्वारा इसे ही प्राप्त करना चाहिए। जैसे सूर्य अपनी अनंत तेजोमयी किरणों को फैलाकर संपूर्ण विश्व को प्रकाशित करते हैं वैसे ही ब्रह्म भी अपने बहुल आनंद से संपूर्ण जगत में अपने आनंद का प्रकाश करते हैं। जीव ब्रह्म का अंश है इसलिए इस जगत में आनंद का अंशमात्र ही प्राप्त करता है।

---

१. वेद में ब्रह्म को "यो वै भूमा" कहा गया है। इसमें वै का तात्पर्य निश्चयार्थक है। इसलिये इस वैदिक वाक्य का तात्पर्य होता है कि "निश्चित ही ब्रह्म अनंत सुख वाला है।" भूमा पद में "वहोर्लोप भू च वहोः" (६।४।१५८) इस पाणिनीय सूत्र से बहु शब्द को भू आदेश और इमनिच प्रत्यय किया गया है अतएव भूमा शब्द बाहुल्य का प्रतिपादक है।

अल्प परिच्छिन्न (नाशवान) पृथिवी तथा स्वर्ग की भोग वस्तुओं में सुख नहीं है। परिणाम में दुःख रूप होने से भौम भोग तुच्छ हैं अतएव त्याज्य हैं। भू से अधिक ब्रह्म सुख है वही भूमा सुख है साधक के लिए वही ज्ञेय और प्राप्य है।

जीव परमात्मा का चिदंश है इसलिए व्यष्टि दृष्टा (खंड दर्शक) है और परमात्मा समष्टि दृष्टा (अखंड दर्शक) है। वह संपूर्ण आनंद को एक साथ अनुभव करता है। समग्र आनंद की अनुभूति करने के कारण ही उसे ईश्वर कहा गया है। सब कुछ जानने के कारण ईश्वर सर्वज्ञ और विशेष अंशों का ज्ञाता होने के कारण जीव विशेषज्ञ है। सर्वज्ञ न होने के कारण ही जीव ब्रह्म के अधीन है। जीव ब्रह्म का कभी भी अतिक्रमण नहीं कर सकता (पार नहीं पा सकता) जीव और जगत का नियंता होने के कारण ही ब्रह्म को ईश्वर कहा गया है। यह ईश्वर ही रूप, सर्वज्ञ, सर्व प्रकाशक, सृष्टि स्थिति और लय का कारण है। ईश्वर ब्रह्म, जीव ब्रह्म और जगत ये तीनों अक्षर ब्रह्म में ही प्रतिष्ठित हैं। अक्षर ब्रह्म ही निर्गुण ब्रह्म है। यह नित्यानंद में एक रस निमग्न रहता है। यह निर्गुण ब्रह्म ही जगत का निमित्त और उपादान कारण है इसलिए यह सगुण भी है। इस सर्वाश्रय सर्व नियंता ब्रह्म के आनंद को प्राप्त करने के लिये भक्ति ही एकमात्र साधन है। अपने को तथा संपूर्ण विश्व को ब्रह्म रूप में चिंतन करना ही भक्ति मार्ग का साधन है। भक्ति मार्ग की उपासना तीन रूपों से पूर्ण होती है। जगत को ब्रह्म मय रूप से देखते हुए प्राणिमात्र में ईश्वरीय भाव रखते हुए उनकी सेवा करना भक्ति की सगुण उपासना है इससे साधक का अंत:करण पूर्ण रूप से निर्मल हो जाता है। जीव और जगत से अतीत सर्वज्ञ सर्व शक्तिमान आनन्दमय ब्रह्म का शुद्धांत:करण में ध्यान करना भक्ति की निर्गुण उपासना है। जगत को ब्रह्म रूप मानकर अणुअणु में उसका दर्शन करना भक्ति का पहला रूप है। जीवमात्र को ब्रह्म का अंश मानकर उनके प्रति सद्‌भावना रखना और सेवा करना भक्ति का दूसरा रूप है। तथा उस ब्रह्म के भूमा सुख की अंत:करण में साधना करना भक्ति का तीसरा रूप है। इस प्रकार भक्त की दृष्टि में ब्रह्म सगुण और निर्गुण दोनों है। जगत और जीव में ब्रह्मानुभूति करना साधन भक्ति की प्राथमिक अवस्था है। इसके साधन से चित्त निर्मल होकर विशाल और अनंतता को प्राप्त हो जाता है तब भक्ति की द्वितीय पराभक्ति या प्रेमा भक्ति की अवस्था प्रकट होती है। यह सिद्धावस्था है। यह अवस्था भक्त साधक के जगत और जीवों के प्रति दैन्य अर्थात् मैत्री, करुणा, मुदिता, उपेक्षा[१] के

---

१. साधु चरित्र भगवद् भक्तों से मैत्री, दुर्बोध अज्ञानियों की हीन दशा पर करुणा, प्राणिमात्र से प्रेम करते हुए यथाशक्ति सेवा में संलग्न रहना मुदिता तथा दुष्ट स्वभाव पापाचरण में संलग्न पापियों से जिस किसी प्रकार भी छुटकारा पाना उपेक्षा है। इन चार भावनाओं से साधक भक्त का अंतकरण शील युक्त हो जाता है यही दैन्य भाव है।

भाव से और भगवत् कृपा से प्रकट होती है।[1]

ब्रह्म की दो शक्तियाँ हैं निग्रह और अनुग्रह। ब्रह्म अपनी क्रीड़ा के लिए कुतूहल वश जीव को बंधन में डालने के लिए निग्रहशक्ति का आश्रय लेता है। अनुग्रहशक्ति से जीव की मुक्ति होती है। निग्रहशक्ति जीव के गुणों का तिरोधान करती हैं। आकार के तिरोधान से जीव में अणुत्व, ऐश्वर्य के तिरोधान से अकिञ्चित करता, तथा विज्ञान के तिरोधान से अज्ञता प्राप्त होती है। साधनभक्ति के निरन्तर अभ्यास से ब्रह्म की अनुग्रहशक्ति प्रकट होती है, जिससे जीवात्मा बंधनों से मुक्त होकर परमात्मा की समता प्राप्त करता है। अनुग्रह शक्ति ही भगवत्कृपा है। अनुग्रहशक्ति ही स्वरूपशक्ति है तथा निग्रहशक्ति, गुणशक्ति है।

सृष्टि के प्रारंभ में परं पुरुष परमात्मा अपनी आह्लादिनी शक्ति को जागरित करने के बाद में अपनी प्रकृति (माया) नामक शक्ति को जागरित करते हैं। सत्व, रज, तम ये प्रकृति के तीन गुण हैं। परम पुरुष ही सृष्टि, स्थिति और संहार करने के लिए इन तीनों गुणों के आश्रय से ब्रह्मा, विष्णु और महेश्वर रूप धारण करते हैं। परब्रह्म भगवान श्री कृष्ण हैं। वे ही संसारी जीवों के अशेष कल्याण के साधक और मुक्तिप्रद हैं। वे ही मूर्त्त, अमूर्त्त उभयविध ब्रह्म रूपों के मध्यवर्त्ती सेतु के समान हैं उनकी उपासना से ही मूर्त्त रूप जगत और अमूर्त्त रूप जीव, ईश्वर की समता प्राप्त कर ब्रह्म से भूमा सुख का आनंद प्राप्त करता है। भगवान् श्री कृष्ण विज्ञान मात्र, कर्म बंधन से रहित और निर्मल है। ये ही साक्षात् सच्चिदानंदघन परमेश्वर हैं। इनकी सच्चिदानंदमय सूक्ष्म सृष्टि के अंदर शुद्ध सत्व गुण का अवलंबन करने वाले ब्रह्मा, विष्णु और महेश गौण ईश्वर रूप माने जाते हैं। ये ईश्वर और इनकी शक्तियाँ विश्व के कल्याण के निमित्त इन परब्रह्म श्री कृष्ण और आह्लादिनी शक्ति श्री राधा के अंश से प्रकट होती हैं। श्री कृष्ण सर्वेश्वर ब्रह्म हैं।

प्राकृतिक जगत और जीवों में जब अधर्म की वृद्धि होने लगती है और जन समूह हीनतम दशा को प्राप्त हो जाता है, सभी कष्टानुभूति करने लगते हैं, तब नष्टप्राय जन समाज को सुव्यवस्थित करने और धर्म साधनों की स्थापना के लिए जगन्नियंता की विभूतियाँ जगत में आविर्भूत होती हैं। इन विभूतियों के द्वारा भी जब कार्य संपादन नहीं हो पाता तब ब्रह्मा, विष्णु, महेश अपने अंश से प्रकट होकर कार्य करते हैं। मंगल मूर्त्ति प्रतिपालक विष्णु ही हैं अतएव अधिकांश उन्ही का अंशावतार होता रहता है। मोक्ष

---

१. "कृपास्य दैन्यादि युजि प्रजायते" (दशश्लोकी—श्री निंबार्क)

तत्त्व का उपदेश भी गुरु के माध्यम से श्री विष्णु के ही आवेशावतार द्वारा होता है जब जीव समूह सांसारिक बंधनों से मुक्त होने के लिए तड़फने लगता है तब उनका उद्धार करने के लिए प्रभु को ही अवतार धारण करना पड़ता है। भगवदवतार के सभी स्वरुप जनसाधारण के लिए उपास्य होते हैं। प्रेम पूर्वक अवतारों के स्वरुप का ध्यान उनके मंत्रों का जप, उनके नामों का कीर्त्तन और लीलाओं का स्मरण साधक के लिए कल्याणकारी होता है। इन साधनों से साधक की तन्मयता होती है और शनैः शनैः साधक के चित्त का समाधान होने लगता है, यही भक्ति मार्ग का सहज और उत्तम मार्ग है। सर्व व्यापक परमात्मा, साधक द्वारा की गई मूर्त्ति विशेष की उपासना से ही प्रसन्न होकर उन पर अपनी कृपा करते हैं तथा अपनी समता प्रदान करते हैं।

भगवान की प्रतिमा में ब्रह्म बुद्धि की धारणा करते-करते साधक का अंतःकरण पवित्र हो जाता है। पवित्र अंतःकरण वाला साधक सारे विश्व में ब्रह्मानुभूति करने लगता है। उसे प्रतिमा में ही ब्रह्मत्व का साक्षात्कार हो जाता है। सभी अवतारों के कारण परब्रह्म भगवान श्री कृष्ण की उपासना सर्वतो भावेन कल्याणप्रद हैं। यह स्वभाव सिद्ध बात है। सब जीवों में भगवद् बुद्धि स्थापित कर द्वेष, हिंसा, कलह, इत्यादि वृत्तियों का त्याग कर अहंकार रहित निर्मल चित्त होकर प्रेमपूर्ण हृदय से भगवद् ध्यान में मग्न हो जाना ही श्री निंबार्काचार्य द्वारा प्रशस्त साधना प्रणाली का सारांश है।

परमात्म भाव की प्राप्ति के लिए साधक को श्री गुरु चरणों का आश्रय ग्रहण करना परमावश्यक है, क्योंकि गुरु प्रशस्त साधना मार्ग के पथिक होकर अहर्निश उसकी अनुभूति करते रहते हैं। भक्ति की अहर्निश साधना और भक्ति रस में निमग्न महापुरुष ही गुरु पद के अधिकारी हैं।[१] शास्त्रों के विधिवत् मनन के बाद ब्रह्म तत्व और मोक्ष मार्ग की ओर जो झुकाव होता है वही सफलता का लक्षण है।[२]

## गुरु आचार्य

आचार्य या गुरु उन्हें ही कहा गया है जो स्वतः तो साधक हों साथ ही साधना द्वारा शिष्य का उद्धार कर सकें। जो शास्त्रीय आचार धर्म को स्वयं आचरण करें और भगवद्भक्ति से स्वयं कृतार्थ हो जावें।[३] इस तथ्य

---

१. देखें ब्रह्मसूत्र १।१।१ का वाक्यार्थ
२. देखें ब्रह्मसूत्र १।१।१ का संपूर्ण वाक्यार्थ
३. **आचिनोति च शास्त्रार्थमाचारे स्थापयत्यपि।**
**स्वयमयमाचरते यस्तु स आचार्य उदाहृतः॥ (मनु स्मृति)**

विवेचन के अनुसार कोई भी आचार्यपद का अधिकारी हो सकता है। वर्ण या आश्रम विशेष को ही आचार्य या गुरु पद का अधिकारी माना जावे, ऐसा कोई विशेष नियम नहीं है। किसी भी आश्रम या किसी भी वर्ण के साधक को जो कि आचार धर्म का पालन करे और साधना द्वारा कृतार्थ हो जावे उसे गुरु या आचार्य माना जा सकता है। इत्यादि शंकायें स्वाभाविक रूप से सभी कर सकते हैं और प्राय: करते भी हैं। इन शंकाओं का उत्तर उन्हीं महानुभावों को दिया जा सकता है जो शास्त्रों की प्रामाणिकता स्वीकार करें तथा गुरुतत्व को समझने की चेष्टा करें। जो शास्त्रों को ब्राह्मणों की निर्मित कपोल कल्पना समझते हैं तथा गुरु या ब्रह्म की बात को पागलों का और ढोंगियों का प्रलाप समझते हैं उन्हें तो दूर से ही अभिवादन है। समझाना तो उनको सरल है जो शास्त्र वाक्य पर विश्वास करते हों। साथ ही आत्मोद्धार की कामना से गुरु पद की महत्ता मानते हों।[१] स्मृति और पुराणों में युग और काल प्रवृत्ति के अनुसार वर्ण और आश्रम व्यवस्था का वर्णन किया गया है। इस समय के प्राप्त पुराण और स्मृतियाँ भगवान श्री कृष्ण के अवतार के बाद के संकलन हैं। भगवान् कृष्ण के प्रथम की भी जो सामाजिक व्यवस्था थी उसका आभास भी हमें प्राप्य पुराणों और स्मृतियों में ही मिल जाती है, क्योंकि इनके संकलन के समय, प्रथम की कृतियाँ उपस्थित थीं जो कि अप्राप्य हैं। वर्ण, आश्रम व्यवस्था का कोई न कोई रूप आज भी चल रहा है पर प्रारंभ से लेकर आज तक इनके अधिकार और आचार जो सर्व प्रथम निर्धारित किये गये थे उनमें कोई अंतर नहीं आया है। ब्राह्मण के लिये जो कर्म निर्धारित थे उनकी श्रेष्ठता और मान्यता आज भी प्रत्येक को स्वीकार्य है इसी प्रकार संन्यासी के लिये एकांत सेवन आदि की व्यवस्था और साधना कही गई थी उसका गौरव सभी के लिये मान्य है। जहाँ उच्चकर्म और उच्च आचरण के लिये ब्राह्मण जाति की स्तुति शास्त्रों में की गई वहां दुराचरण के लिये गर्हणा भी। ब्राह्मण जाति की स्तुति नहीं की गई है। यदि ठीक ढंग से अध्ययन किया जावे तो ब्राह्मण जाति पर शासन

---

**कृतार्थो ह्याचार्यो नाम भवति—पांतजल महाभाष्य**

[जो शास्त्रों से आचार धर्म का चयन कर स्वयं आचरण में लावें तथा स्वयं साधना से कृतकार्य हों उन्हें आचार्य कहते हैं]

१. **गरुणा विदुषाऽदिष्टं यस्तुं पंथानमास्थितः।**
**निर्मान् आत्मवान् भीरः स तत्त्वं वेत्ति नेतरः॥**

[विद्वान् गुरू से आदिष्ट मार्ग का आश्रय ग्रहण करने वाले ही परमात्मतत्त्व के ज्ञाता हो सकते हैं, अन्य नहीं]

शास्त्रों ने अधिक किया है। हिरण्याक्ष हिरण्यकशिपु, रावण कुभंकर्ण आदि ब्राह्मण ही थे जिन्हें राक्षस कह कर निंदित कहा गया, अजामिल आदि पतित ब्राह्मणों की निंदा कम नहीं है। दुर्वासा ने जहाँ कहीं भी भूल की उन्हें नीचा दिखलाया गया आदि अनेक उदाहरण उपलब्ध हैं। ब्राह्मण की विशेषता तीन कारणों से सदा रही है विद्या, तप और आचार। आचार का तात्पर्य जन्म से लेकर मरण तक के संस्कारों से भी है जो कि कुल परंपरा से चलते हैं जिसके कारण जन्म से जाति का महत्व दिया गया है। परंपरागत संस्कारों के कारण रक्त में विशेषता आ जाना स्वाभाविक है इसलिए नस्ल की विशेषता भी स्वीकार करनी ही पड़ेगी।[१]

ब्राह्मण की सबसे बड़ी विशेषता तो उसकी ब्रह्म संबंधी साधना और ज्ञान है। इसलिए वह उम्र में छोटा होकर भी जगत का पूज्य माना गया है।[२] परंतु यदि विद्या प्राप्त करने के बाद विद्या के अभिमान में संसार के लोगों का अपमान करता है, तो उसे ब्रह्मतत्व का ज्ञान नहीं हो सकता।[३] ब्राह्मण का वास्तविक अर्थ तो ब्रह्मविद्या का ज्ञान ही है हैं। ब्रह्मविद्या का सिद्धांत पढ़ लेना अथवा ब्रह्मविद्या के तत्त्व प्राप्त करने वाली साधनाओं को ही ब्रह्मविद्या मान लेना और अपने को ब्रह्मविद्यावादी कहना भी एक महान दंभ है। प्रायः ऐसे ब्रह्मविद्यावादी ही दूसरे को अपमानित करते हैं।[४]

---

१. **तपः श्रुतं च योनिश्च त्रयं ब्राह्मण कारणं।**
**तपः श्रुताभ्यां यो हीनो जात्या ब्राह्मण एव सः॥**

[तप, विद्या और योनि ये तीन ब्राह्मण जाति के कारण हैं। तप और विद्या से जो हीन हैं वे केवल जाति से ही ब्राह्मण हैं।

२. **ज्ञानेन ब्राह्मणो वृद्धः क्षत्रियश्च बलाधिकः।**
**वैश्यो धन ससृद्धस्तु वयसा शूद्र एव च॥** (महाभारत)

[ब्राह्मण ज्ञान से, क्षत्रिय बल से, वैश्य धन से तथा शूद्र उम्र से वृद्ध होते हैं]

३. **अधीयान् पंडितम्मन्यमानो यो विद्यया हंति यशः परेषां।**
**तस्यान्तवंतश्च भवंतिलोका न चास्यतद ब्रह्मफलं ददाति॥**
(महाभारत)

[जो विद्या को प्राप्त कर अपने को पंडित मानकर दूसरों को अपमानित करते हैं उन्हें नरक प्राप्त होते हैं तथा उनकी ब्रह्मविद्या निष्फल होती है]

४. **सर्वे ब्रह्मवदिष्यंति संप्राप्ते तु कलौ युगे।**
**नानुतिष्ठति मैत्रेय शिश्नोदर परायणाः॥** (पाराशरस्मृति)

[कलिकाल में सभी ब्रह्मविद्या के उपदेष्टा बनेंगे परंतु सांसारिक कर्मों में आसक्ति में रत रहेंगे कोई अनासक्त भाव से कर्त्तव्य कर्मों का आचरण करने वाला न होगा]

भगवान श्री निबार्काचार्य जी ने इसीलिये भगवत कृपा की इच्छा रखने वाले तथा भगवद्भाव में निमग्न महात्मा को ही वास्तविक ब्रह्मविद्यावादी आचार्य कहा है। गीता के अनुसार ज्ञान (शास्त्रीय ज्ञान) विज्ञान (ब्रह्मतत्व का ज्ञान) और ईश्वर, गुरु तथा शास्त्र पर विश्वास ये तीन ब्राह्मण के स्वाभाविक गुण हैं [ज्ञान विज्ञानमास्तिक्यं ब्रह्मकर्म स्वभावजम्]

इस प्रकार विवेचन करने से ज्ञात होता है कि ब्राह्मण ही गुरु या आचार्य पद प्राप्त करने के अधिकारी माने जा सकते हैं। परंतु इससे यह निर्णय तो अब भी नहीं हो पाया कि ब्राह्मणों के समान आचरण करने वाले अन्य जातीय व्यक्ति को भी क्यों न आचार्य माना जावे ? क्यों ब्राह्मण कुल में जन्म लेने वाले आचारवान को ही आचार्य माना जावे ? इसका समाधान यदि शास्त्रों द्वारा ही करने की चेष्टा की जावे तो भी उसका समाधान होना कुछ कठिन है। क्योंकि युग और स्थिति के अनुसार स्मृतियों में अनेक व्यवस्था दी गई है। जहाँ तक वेद की आज्ञा है वहाँ केवल ब्रह्मनिष्ठ को गुरु कहा गया है। "सद्गुरुमेवाभिगच्छेत् समित्याणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम्" [श्रोत्रिय और ब्रह्मनिष्ठ सद्गुरु के पास समिधा लेकर शिष्य को जाना चाहिए] पर वेदों में ब्राह्मणों की महत्ता कही गई है तथा जन्मना ही जाति मानी गई है। यह मान्यता अनेक स्मृतियों में भी पाई जाती है। श्री निंबार्काचार्य, शंकराचार्यादि भी वेदों की इस मान्यता को स्वीकार करते हैं। महात्मा बुद्ध ने जन्मना जाति का खंडन किया परंतु भारतीय आचार्यों ने उसे मान्यता नहीं दी तथा ब्राह्मणों की विशेषता को दृढ़ बनाने के लिए पुराणों की रचना द्वारा ब्राह्मण जाति का महत्व स्थापित किया गया। वैदिक युग की मान्यतायें थी कि जन्म के साथ-साथ कर्म की भी विशेषता होनी चाहिए। पुराणों ने भी इस बात की पुष्टि की परंतु कुछ स्मृतियों में जन्म से भी ब्राह्मण को श्रेष्ठ और पूज्य माना गया। कहीं-कहीं ऐसा भी कहा गया कि ब्राह्मण का ब्राह्मण गुरु हो, क्षत्रिय का क्षत्रिय, वैश्य का वैश्य तथा शूद्र का शूद्र।[१] पर यह व्यवस्था वैदिक ब्रह्मविद्या के लिए नहीं है। यह विधान तांत्रिकी दीक्षा का है जो कि ई० पू० की ४ थी या पाँचवीं सदी से प्रारंभ होती है। वैदिकी ब्रह्मविद्या के उपदेश का अधिकार केवल ब्राह्मण को ही दिया गया है शूद्र को तो वैदिकी ब्रह्मविद्या के सुनने का भी अधिकार नहीं दिया गया।[२] श्री निंबार्क स्वयं भी आगम शास्त्र (तंत्र शास्त्र) के

---

१. **ब्राह्मणो ब्राह्मणैः श्राव्यः क्षत्रियः क्षत्रियैस्तथा।**
**वैश्यो वैश्यैस्तथा श्राव्यः शूद्रः शूद्रै परंतप॥**
तक का वाक्यार्थ।

२. देखें ब्रह्मसूत्र १।३।३४ से १।३।३९ तक का वाक्यार्थ।

ज्ञाता थे ।[१] परन्तु उन्होंने वैदिकी उपासना को ही महत्व दिया है, जैसा कि उनके ब्रह्मसूत्र वाक्यार्थ से ज्ञात होता है ।[२] इसलिए निंबार्क के मत में गुरू होने का अधिकार ब्राह्मण को ही है, ऐसा समझना चाहिये । संप्रदाय के परंपरित गुरु का महत्व तो तंत्र शास्त्र ने भी स्वीकार किया है । जो परंपरा से मंत्र रहस्य का ज्ञाता और मंत्र रहस्य का उपदेष्टा है वही गुरु माना गया है ।[३] बात यहाँ भी वही है मंत्रविदों के एक विशेष वर्ग या समुदाय को ही आचार्य या गुरु होना माना है । संप्रदाय, जाति, वर्ग समुदाय किसी न किसी रूप में गुरु पद चलता रहा है, यह निश्चित है । इसी को मानना भी चाहिये । यदि मंत्रों की शक्ति और उपासना का महत्व स्वीकार्य है तो परंपरित गुरु की विशेषता भी स्वीकार करनी होगी, क्योंकि जिन शास्त्रों में मंत्रोपासना की महत्ता बतलाई गई है उन्हीं में परंपरित आचार्य को ही मंत्रोपदेष्टा गुरु कहा गया है । इसलिए जिस किसी का गुरु बन बैठना एक छलना और बिडंबना मात्र है । जिस परंपरा में उपासना का निरंतर क्रम चलता रहता है निश्चित ही उसमें तथ्य होगा । गीता के अनुसार आचार्यों की दो प्रकार की परंपरा का उल्लेख किया गया है एक तो भृगु, वशिष्ट आदि सप्त ऋषियों द्वारा प्रवृत्तित गृहस्थों की परंपरा दूसरी सनकादि चारों मुनियों द्वारा प्रवृत्तित ब्रह्मचर्य परंपरा[४] सनकादि ऋषियों की चलाई हुई परंपरा के तृतीय आचार्य श्री निंबार्क थे । यह संप्रदाय सनकादि संप्रदाय के नाम से ही प्रसिद्ध है । सनकादि संप्रदाय प्रथम की है, भृगु आदि बाद के आचार्य हैं । वास्तविकता तो ये है कि बुद्ध द्वारा जब भिक्षु संप्रदाय प्रबलता के साथ बढ़ने लगा तब भागवत धर्म ने सनकादियों के प्रवर्त्तित निवृत्ति धर्म वाले संप्रदाय को प्रवृत्ति धर्म वाला संप्रदाय बनाया और उसी को नारायणी धर्म कहा है—

---

१. श्री शंकराचार्य—द्रविड़ाचार्य श्री निंबार्क को आगमविद कहते हैं।

२. भागवत १०।८७।१८ में निंवार्क की वैदिकी उपासना का उल्लेख है।

३. **संप्रदाय विहीना ये मंत्रास्ते निष्फला मताः ।**
**परंपरागता येतु ते कृष्णकरुणान्विताः ॥** (पद्म पुराण)

[संप्रदाय से हीन जो मंत्र होते हैं वे निष्फल होते हैं । जो परंपरा से प्राप्त मंत्र हैं उन पर कृष्ण की पूर्ण कृपा रहती है]

४. "महर्षयस्सप्तपूर्वे चत्वारो मनवस्तथा मद्भावामानसा जातायेषां लोकइमाः प्रजाः ।"

**"प्रवृत्ति लक्षणं धर्म ऋषिर्नारायणोऽब्रवीत् ।**[१]

यह कार्य भागवत संप्रदाय के उन्हीं प्रधान श्री आरुणि, विष्णु, कौंडिन्य, गर्ग, शांडिल्य आदि आचार्यों का है । इन आचार्यों ने निवृत्ति का तात्पर्य नैष्कर्म्य किया जिसका अर्थ होता है, अनासक्त भाव से कर्मानुष्ठान ।[२] इसी नैष्कर्म्य सिद्धांत के अनुसार श्री नारदोपदिष्ट सात्वत संहिता नारद पाँचरात्र का संकलन किया गया ।[३] गीता में भी अनासक्त कर्म योग का उपदेश दिया गया । नैष्कर्म्य साधन ग्रहस्थ और व्रह्मचर्याश्रम में ही शक्य है, इसलिए वैष्णव धर्म की परंपरा इन दो ही आश्रमों में चली । आचार्य गुरुओं की परंपरा भी इन दो ही आश्रमों की चलती रही है । सन्यास आश्रम में पूर्ण कर्म त्याग का विधान किया गया ।[४] इसीलिए स्वामी शंकराचार्य जी ने भी गृहस्थ आश्रम को ही आचार्य कुल माना था ।[५] सन्यासाश्रम के लिए स्पष्ट रूप से एकांतवास की आज्ञा दी गई है—

**"न शिष्याननुवध्नीत् ग्रंथान्नैवाभ्यसेत् क्वचित् ।**
**न व्याख्यानमुपयुञ्जीथ, नारंभानारभते क्वचित्** भा॰ ७ । १३ । ८
**"एक एव चरेद् भिक्षुरात्मा रामोऽनपाश्रयः"** भा॰ ७ । १३ । ३ ॥

[सन्यासी शिष्य न बनावे, ग्रंथो का अभ्यास न करे, व्याख्यान न दे, मठ न बनावे । बिना आश्रम के भिक्षु होकर अपने ही आनंदित रहते हुए अकेला ही विचरण करे] दक्ष स्मृति में चार ही आचरण सन्यासी के लिए स्थिर किए गए—

**"ध्यानं शौचं तथा भिक्षा नित्यएकांत शीलता ।**
**भिक्षोश्चत्वारि कर्माणि पंचमो नोपपद्यते ॥'**

---

१. महाभारत शांतिपर्व २१७ । २ ।

२. "नैष्कर्म्यमुवाच चचार कर्म" [भागवत ११ । ४ । ६]

३. "तंत्र सात्वत माचष्ट नैष्कर्म्य कर्मणां यतः" [भागवत १ । ३ । ८ ।]

४. **महीशय्या रम्या विपुलमुपधानं भुजलता ।**
**वितानं चाकाशं व्यजनमनुकूलोऽयमनिलः ॥**
**स्फुरद्दीपश्चंद्रो विरति वनिता संगमुदितः ।**
**सुखशांतं शेते मुनिरतनुभूति नृप इव ।"** भर्तृहरि वैराग्य शतक

[जिनके लिए पृथ्वी ही सुन्दर शय्या हैं, हाथ ही कोमल तकिया है, आकाश ही मशहरी है, प्राकृतिक वायु ही पंखा है, चंद्रमा ही दीपक है, विरक्ति ही स्त्री संग है, इस प्रकार मुनि राजा के समान वैभव शाली होते हैं]

५. "ग्राहंस्थ आचार्य कुलं" शांकर भाष्यम् ३ । ४ । ४७

[भगवच्चिंतन, पवित्रता, भिक्षा और एकांत सेवन ये चार ही भिक्षु के कर्म हैं पाँचवा नहीं]

इसी प्रकार स्मृति में सन्यासियों द्वारा शिष्य संग्रह को प्रपंच कहा गया—

"लाभ पूजा निमित्तं हि व्याख्यानं शिष्य संग्रहः।
एते चान्ये च बहवः प्रपंचाः कुतपस्विनाम् ।।"

(दक्ष स्मृति)

[लाभ और पूजा के लिए जो तपस्वी व्याख्यान देते अथवा शिष्य बनाते हैं, वे प्रपंची हैं]

ऐसे अनेक उदाहरण धर्म ग्रंथों में मिलते हैं। भागवत धर्म के अनासक्त ज्ञानकर्म युक्त भक्तिवाद का ऐसा प्रबल प्रचार हुआ कि बौद्ध धर्म भी उससे प्रभावित हुआ। बौद्धों ने भी भिक्षु मार्ग छोड़ना प्रारम्भ कर दिया, उन्होंने अपना सिद्धांत बनाया कि "गृहस्थाश्रम में रहते हुए निर्वाण प्राप्त कर लेना अशक्य नहीं है"।

(नागसेन-निलिंद प्रश्न ६।२।४)

बौद्धों में गृहस्थ संप्रदाय की स्थापना हुई और भागवत धर्म की भक्ति के सिद्धांत उस संप्रदाय ने पूर्ण रूप से अपनाये उन्होंने भक्ति के मार्ग को महान स्वीकार किया और अपने को भक्ति के महामार्ग के पथिक मानने लगे तथा अपने मार्ग को महायान कहने लगे। उसी काल में बौद्ध मैत्रेयनाथ जो वैष्णव धर्म में दीक्षित हो चुके थे, बौद्ध धर्म और भागवत धर्म के मिले-जुले रुप को लेकर विदेश भ्रमण करने गये उनके उपदेशक थे। इन लोगों ने तातार, ईरान, अफगानिस्तान, चीन, जापान आदि में महायानीय बौद्धधर्म का प्रचार किया। भागवत धर्म ने जो गृहस्थाश्रम में ही उपासना का सहज मार्ग प्रचलित किया था उसी को भारत के गौड़ देश बंगाल ने सहजिया संप्रदाय रूप में खड़ा किया तथा चीन में सुखावती (त्सिङ् गतु) सम्प्रदाय तथा जापान ने भी सुखावती (जो दो शु) संप्रदाय के रूप में स्वीकार किया। इस सुखावती संप्रदाय में भागवत धर्म के द्वादशाक्षर वासुदेव मंत्र "नमो भगवते वासुदेवाय" के आधार पर महायानी बौद्ध आचार्यों द्वारा रचित "नामु अमिता बुत्सु" (नमो अमित बुद्धाय) मन्त्र के जप का विधान किया गया। इस संप्रदाय की साधना प्रणाली और मोक्ष का सिद्धांत भी भागवत धर्म के अनुसार ही है। जापान के 'जो दो शु" संप्रदाय में "गुरु के समीप जाकर सत्सङ्ग और मन्त्र करना और बुद्ध की उपासना करना, धर्म शास्त्रों का स्वाध्याय और आचरण करना उपांशु रूप से "नामु अमिता

बुत्सु" का जप करना प्रधान साधन है, इनमें अमिताभ बुद्ध की सालोक्य मुक्ति मिलती है।[१] भागवत धर्म के पंचात्मक विष्णु रुप के अनुसार बौद्धों ने भी बुद्ध के पाँच रुपों की कल्पना की।[२] भागवत धर्म ने एक ओर श्री कृष्ण को ही एकमात्र आश्रय, सर्वेश्वर, सर्वज्ञ कहां दूसरी ओर उसी के आधार पर ईश्वर पर विश्वास न रखने वाले बुद्ध उनके भक्तों द्वारा अवलोकितेश्वर बना दिए गए। श्री कृष्ण के समान सूर्य और चंद्र जिनके नेत्र, नारायण हृदय और सरस्वती का दाँत कहा गया उनके भी विराट रुप की कल्पना की गई।[३] सनकादि संप्रदाय के द्वारा जो दो ब्रह्मचर्य और गृहस्थ के मार्ग गुरु परंपरा के प्रचलित किये गए उन दोनों को ही बौद्धों ने अपनाया। निंबार्क के आचरित ब्रह्मचर्य की महत्ता भी स्वीकार की। वे कहते है कि—"अरे भिक्षु ! ब्रह्मचर्य का आचरण कर। उससे समस्त दुःखों का अंत हो जावेगा।" "एहि भिक्खु ! चर ब्रह्मचरियं सम्या दुक्खस्स अंत किरियायाति।"[४]

## वैष्णव मत और ईसाई मत

ई० के २४१ वर्ष पूर्व अशोक के पुत्र महेंद्र ने अपने पिता के समान वैष्णव और बौद्ध धर्म के समन्वयात्मक रुप महायान का विदेशों में व्यापक प्रचार करवाया। उसी समय एसीन नामक भक्तों का एक दल यहूदियों के देश में संगठित हुआ था। मृत समुद्र के किनारे एंगदी में इनका मठ था। इस दल के लोग अहिंसक एकांतवासी ब्रह्मचारी और गृहस्थ थे। ब्रह्म का चिंतन ही इनका मुख्य धर्म था। मद्य मांस आदि मादक पदार्थों का सेवन नहीं करते थे। ये लोग अंग्रेजी के U आकार का यम चिन्ह मस्तक पर लगाते थे। ये लोग गुरु दीक्षा का विधान भी करते थे जिसमें स्नानोपरांत दीक्षा का नियम था। इस दीक्षा विधान को "बप्तिस्मा' कहते थे। ईसा मसीह इसी मत के अनुयायी थे, उन्होंने बड़ी श्रद्धा के साथ इस मत का स्मरण किया था।[५]

---

१. "दि हिस्ट्री आफ जापानीज रिलीजन"
पृ० १८५ मसाहरु अनैसाकि

२. वैकुंठ पति, क्षीर समुद्रशायी, श्वेत दीपाधिपति गोलोक पति और निर्विशेष निर्गुण ब्रह्म ये पाँच भागवत धर्म के विष्णु रूप हैं।
इसी प्रकार वैरोचन, अक्षोम्य, रत्न संभव, अमिताभ और अमोघ सिद्धि ये पाँच बुद्ध के रुप हैं।

३. सद्धर्म पुंडरीक २३८।४ (रचना काल ई० १ सदी)

४. विनयपिटक महावग्ग।

५. मैथ्यू ५।३४।१९।१२५।१२-४।३५+३२।

ईसामसीह के समय भी भारत के कुछ वैष्णव साधकों का दल जेरुसलम गया था, उन्होंने भागवत के प्रेम मार्ग का प्रचार किया था।[१] वैष्णव धर्म और बौद्ध धर्म के प्रभाव के प्रथम भारतीय हिंसात्मक यज्ञ परंपरा का यहूदी धर्म पर पूर्ण प्रभाव था। यहूदी लोग अपने देवता जिहोबा को प्रसन्न करने के लिए अग्नि में पशुओं की आहुति दिया करते थे। उनका जिहोवा संभवत: अग्नि ही था। जिहोवा शब्द आहुति अर्थ का द्योतन करने वाली "जुहोति" क्रिया का विकृत रूप मात्र है। श्री निंबार्क ने कृपा और दैन्य से ही भक्ति का प्रकाश कहा था, उसी भाव को ईसामसीह ने प्रकट किया।[२] "मैं हिंसात्मक यज्ञ नहीं चाहता मुझे कृपा और दीनता चाहिये" श्री निंबार्क ने उपासना में सख्य भाव, वात्सल्य भाव, दास्य भाव और दांपत्य भाव को प्रधानता दी थी। ईसामसीह का प्रसिद्ध बाल प्रेम वात्सल्य भाव की ही पुष्टि करता है। श्री निंबार्क की वास्तविक उपासना दांपत्य भाव (प्रियावत भाव) की थी। ईसाई मत में इसे पूर्ण रुप से स्वीकार किया गया।[३] ई० सन् १०९०-११५३ के सेन्ट बर्नर्ड ने प्रियावतभाव का गान किया है। ये प्रेमाभक्ति के उपासक भक्त थे। ईसाई संतों ने प्रियावत भाव का चार प्रकार से वर्णन किया—(१) मंगनी (Betrothal) (२) विवाह (Marriage) (३) ग्रंथि बंधन (Wedlock) (४) संयोग (Copulation) इन्हें वे प्रेमाभक्ति का क्रमिक विकास कहते हैं। इसके रहस्य को वे श्री निंबार्क की उपासना प्रणाली के आधार पर ही प्रकाशित करते है।[४] अहं तत्त्व का मन तत्त्व से एकीकरण ही संयोग है, इन दोनों का सम्मिलित रुप से जीवात्मा से संलग्न हो जाना ही ग्रंथि बंधन है, जीवात्मा का परमात्मा के शरणापन्न होना विवाह है। सेन्ट बर्नर्ड कहते हैं कि "मेरे में जो मेरापन है

---

१. वाइविल मैथ्यू २।१।

२. मैथ्यू ९।१३॥

३. वाइविल (Old Testament) अर्थात् प्राचीन संहिता के नाम से जो स्थल है उसमें "सुलेमान गीत" नामक रचना में जीवात्मा और परमात्मा के प्रति प्रियावत भाव दिखलाया गया है। इस गीत में जीव को पत्नी तथा ब्रह्म को पति मानकर आध्यात्मिक विवाह [Spiritual Marriage] दिखलाया गया है।

The books of the old testaments the song of soloman—chapter 1-2,2-1 O,5-107,7-10.

४. श्री निंबार्क ने ब्रह्मसूत्र वाक्यार्थ के चतुर्थ अध्याय में अहंकार का मन से, मन का जीव से, जीव का परमात्मा से संलग्न होना कहा है। इसी को वह मोक्ष का साधन मार्ग कहते हैं। दशश्लोकी में भी ब्रह्म का स्वरूप वर्णन "व्यूहांगिनं ब्रह्म" कहते हैं, उसका भी यही रहस्य है।

वह परमेश्वर है जो मेरी सत्ता और मेरा उल्लास है।" यह पत्नी के सर्व समर्पण भाव का रहस्य है। जो कि विवाहिता पत्नी का ही होता है। जिसे वैष्णव लोग स्वकीया भाव कहते हैं। श्री निंबार्क की उपासना स्वकीय भाव की ही थी। उसका पूरा प्रभाव ईसाई मत पर पड़ा है। भागवत में रासलीला के प्रसंग में संयोग और वियोग दोनों लीलाओं का चित्रण कर जीवात्मा परमात्मा के सम्मेलन में विशेष चमत्कार दिखलाया गया है।[१] ईसाई मत में सेन्ट बर्नर्ड के बाद सेन्ट जानआफ रुइस ब्रोक (ई० सन् १२९३-१३९१ ने संयोग के साथ विरह को भी प्रधानता दी है। वे विरह में विशेष उल्लास और तन्मयता मानते हैं। उनके मत में वियोग एक अंधकार पूर्ण रात्रि है।[२] महिला सेन्ट टेरेसा (ई० स० १५१५-१५८२) अपने को प्रभु की पत्नी मानती थीं। सेन्ट टेरेसा के शिष्य सेन्ट जान आफ द क्रास (ई० सं० १५४२-१५९१) ने अपनी रचना (Spiritual Cantice) "आध्यात्मिक उपगान" में विरह और मिलन की सह अनुभूति का अनूठा चित्र उपस्थित किया है। उन्होंने उभय रूप (Dual Character) को सक्रिय (Agent) और निष्क्रिय (Patient) का सहयोग कहा है।[३]

---

१. इसी पुस्तक के उत्तरार्ध में दशश्लोकी की व्याख्या में भी इस संयोग वियोगात्मक लीला का विस्तृत विश्लेषण किया गया है।

२. P. N. Srinivasachari : Mysties And Mysticism. [Madrass 1951-P. 286-289]

३. ठीक इसी काल में [ई० सन् १५०२-१५५२] भारत के सिद्ध वैष्णव संत श्री हित हरिवंश गोस्वामी श्री राधाकृष्ण की संयोग वियोगात्मक लीला का गान कर रहे थे। दो सुदूर देशों में एक ही प्रकार की भाव व्यंजना का प्रकाश इस वात की पुष्टि है कि दांपत्य भाव के आदि उपासक भगवान् श्री निंवार्क की प्रियावतभाव की उपासना का रहस्य जो कि ईसा के समय ही वैष्णव संतों द्वारा पश्चिम प्रदेशों में पहुँचाया गया था, वह क्रमशः फलता-फूलता रहा। भारत में भी उसकी परंपरा रही है श्री हरिवंश ने उसी परंपरा का अनुसरण मात्र किया है। श्री हरिवंश की यह कोई मौलिक सूझ हो ऐसा नहीं कहा जा सकता। भागवत धर्म के प्रतिपाद्य प्रेम सिद्धांत को ही पौर्वात्य और पाशाच्य संतों ने गाया है। सद्धर्म पुण्डरीक ऐसे वौद्ध ग्रंथों में भी यही प्रेम सिद्धांत अनुस्यूत है, उसमें भी इसी प्रकार की भाव व्यंजना की गई है। निश्चित ही हरिवंश जी ने इस प्रेम रस को उत्कृष्टतमरुप से गान किया है। इस वैशिष्ट्य को तो सभी साहित्यिक और भक्त नतमस्तक होकर स्वीकार करेंगे। वैसे यह रस नित्य नूतन है इसलिए कोई भी रसिक इसे भाव विभोर होकर गान करेगा, उसमें स्वाभाविक नवीनता झलकेगी ही।

श्री निंबार्क ने दशश्लोकी में उपास्य, उपासक, कृपाफल और भक्ति रस को ज्ञेय कहा है, ईसाई संत अंडरहिल ने इस तथ्य को ज्यों का त्यों स्वीकार कर लिया है—देखें [Evelyn Underhill : Mysticism P. 139-40]

## प्रेम मार्ग और इस्लाम

बसरा की एक प्रसिद्ध उपासिका रबिया अपने को प्रभु की पत्नी मानती थी, वह अपने को पूर्णरूप से प्रभु के चरणों में समर्पित कर चुकी थी। एक बार सूफी संत हसन बसरी ने पूछा कि "तू विवाह क्यों नहीं करती ?" तब उसने उत्तर दिया कि "विवाह तो स्थूल शरीर का होता है, सो वह मेरे मन के साथ स्वामी के चरणों में समर्पित है, इसलिए मेरा असली विवाह तो प्रभु के साथ हो चुका।[१] रबिया की भावना गोपियों के समान थी, उसका सब कुछ प्रियतम का ही था।

सूफी संतों में बुल्लेशाह स्त्री वेशभूषा धारण कर लोगों को "काफी" के पद सुनाते फिरते थे। जिनमें प्रियतम के प्रति विरह भावना पूर्ण रुप से होती थी। उनके अनुयायी आज भी चूड़ी आदि धारण कर स्त्री वेश में रहते हैं। यह संप्रदाय गुजरात में है, अहमदाबाद इसका मुख्य केन्द्र है। इनकी गुरु परंपरा भी गृहस्थों की है।[२]

---

१. Margaret Smith : Rabia the Mystic [London 1928 P. 30]

१. श्री निंवार्क ने प्रियावत भाव मात्र ही माना था। उनकी उपासना आध्यात्मिक थी वे अंतः साधक थे। परंतु आगे चलकर प्रायः श्री हरिवंश जी के काल से वैष्णवों में सखी संप्रदाय चला, उसका सभी पर प्रभाव पड़ा सखी संप्रदाय वाले स्त्री वेष भूषा भी धारण करते हैं। श्री निंवार्क ही प्रियावत भाव के प्रथम आचार्य थे। इसलिए प्रायः सखी संप्रदाय का संवंध निंवार्क संप्रदाय से जोड़ा जाता है। ओरछा के प्रसिद्ध महात्मा श्री हरीराम व्यास भी इस सखी संप्रदाय के संपर्क में थे हरिवंशी और हरिदासी उनकी दो प्रधान सखियाँ थी। ये तीनों सखियाँ सदा मिलकर भगवत सान्निध्य की निकुंज लीला का आनंद लेती रहती थीं। व्यास जी की प्रसिद्ध वाणी है—"कव मिलिहैं वे सखी सहेली हरिवंशी हरिदासी।" पर प्रायः इनके प्राप्त प्रसिद्ध चित्रों को देखने से ज्ञात होता है कि ये तीनों स्त्री वेषभूषा नहीं धारण करते थे। इनकी उपासना भी अध्यात्मिक ही थी। संभवतः इसीलिये रहस्यमर्मज्ञ हिंदी साहित्य जगत के उद्दीप्त नक्षत्र भारतेन्दु जी ने कहा भी है—

**निंबारक मतविदित प्रेम को सारहि जान्यौ।**
**युगल केलि रसरीति भले कर इन पहिचान्यौ॥**

## श्री निंबार्क परंपरा के सिद्ध संत

श्री निंबार्काचार्य रसिक भागवत संप्रदाय के आदि आचार्य हैं क्योंकि शुकदेव जी के शब्दों में निगम कल्पतरु रस को उन्होंने सर्व प्रथम अपने गुरु श्री नारद की आज्ञा से घर घर और जन जन में प्रकाशित किया। श्री निंबार्क ने उस प्रेमरस को छक कर पिया था। श्री शुकदेव ने भागवत में कहा है—

**"निगम कल्पतरोर्गलितं फलं शुक मुखादमृतद्रव संयुतं।**
**पिबत भागवतं रसमालयं मुहुरहो रसिका भुवि भावुकाः॥"**

[वेद रूपी कल्पतरु के गलित फल जिसमें शुक ने अमृत घोला है, ऐसे रसालय भागवत के रस को रसिक और भावुकजन पुनः पुनः पान करें]

भक्ति के कष्ट निवारण के लिये श्री नारद ने प्रतिज्ञा की थी कि—

**"अन्य धर्मान् तिरस्कृत्य पुरस्कृत्य महोत्सवान्।**
**तदा नाहं हरेदासो लोके त्वां न प्रवर्त्तये॥"**

**[प० पु० उ० खं० २।१४]**

[अन्य धर्मों का तिरस्कार कर भक्ति को विपुल रूप से फैलाऊँगा अन्यथा मैं हरि का दास नहीं] श्री नारद को चिंता थी कि "न हि वैष्णवता कुत्र संप्रदाय पुरस्सरा" इसलिए उन्होंने वैष्णव संप्रदाय का संचालन किया श्री निंबार्क ही उस संप्रदाय के आदि प्रवर्त्तक आचार्य थे, उन्होंने गुरु नारद

---

**सखीभाव अति चाव महल के नित अधिकारी।**
**पियहुँ सों बढ़िहेत करत जिनपै निज प्यारी॥**
**जगदान चलायौ भगति को ब्रजसरवर जल जलजि खिली।**
**जान्यौ वृन्दावन रूप हरिदास, व्यास, हरिवंश मिली॥**

निंवार्क संप्रदाय के रसिक आचार्य श्री भट्ट जी के प्राप्त चित्र से तो ज्ञात होता है कि वेषभूषा भी सखियों का धारण करते थे उनके वगल में दो सखियों के वेष में सिद्ध संत चमर दुलाते दीखते हैं। हो सकता है यह हरिवंशी और हरिदासी सखी के रूप की कल्पना हो। वह चित्र है भावपूर्ण। सखी संप्रदाय का यह रूप चला इन्हीं संतों के काल से। रामानन्दी संप्रदाय में भी सखी संप्रदाय चला। स्वामी वल्लभाचार्य के सुपुत्र विट्ठलनाथ जी भी इस मत से प्रभावित थे। प्रसिद्धि है कि श्री भट्ट जी श्री श्री (राधा) के भाव में रहते थे उनकी भावना प्रियावत भाव की थी। हरिवंशी और हरिदासी श्री जी की अंतरंगा सखी कही जाती है संभवतः इसी भाव से निंवार्क संप्रदाय में श्री भट्ट जी के उस चित्र की कल्पना कर ली गई। निंवार्क संप्रदाय के आचार्य श्री जी के रूप ही कहे जाते हैं आज इसी नाम से प्रसिद्ध हैं। श्री निम्वार्क ने स्वरूपशक्ति और गुणशक्ति से युक्त गुरु रूप, प्रभू की आह्लादिनी शक्ति श्री जी को कहा है। श्री भट्ट जी के चित्र से यही

की आज्ञा से अपने ब्रह्मसूत्र वाक्यार्थ में बौद्ध, जैन, पाशुपत आदि अन्य धर्मों का निराकरण कर एकमात्र भक्ति की स्थापना द्वारा श्रीनारद की प्रतिज्ञा को पूरा किया। निगम कल्पतरु के उस रस की सुरभि को श्री निंबार्क ने बादरायण ब्रह्मसूत्रों में प्रकाशित किया, इसलिये सूत्रों के वाक्यार्थ को वेदांत परिजात सौरभ नाम दिया। वेदांत सुरभि (कामधेनु) से ही उन्होंने अमृत का दोहन कर वेदांत कामधेनु नाम से दशश्लोकी का उपदेश किया। आचार्य जी ने भगवद्गीता पर भी वाक्यार्थ लिखा था, ऐसा तत्व प्रकाशिका नामक गीता भाष्य में केशव कश्मीरी जी ने उल्लेख किया—"व्याख्यानमादौ तददभ्र बोधादाचार्यवर्येण हरि प्रियेण, निंबार्कनाम्नातिगभीर बोधम्।" [गीता का सर्व प्रथम व्याख्यान आचार्यवर्य श्री हरिप्रिय निंबार्क भगवान ने किया था] दुर्भाग्यवश अब गीता वाक्यार्थ उपलब्ध नहीं है। छांदोग्योपनिषद् पर जो भाष्य आचार्य जी ने लिखा था उसके कुछ अंश यत्र-तत्र मिलते हैं संपूर्ण नहीं मिलता, श्रीरामानुज जी ने अपने श्री भाष्य में छांदोग्य भाष्य के अंश द्रविड़ाचार्य के नाम से उद्धरण रूप में दिये हैं। "रहस्य शोडषी" नामक सोलह श्लोकीय वक्तव्य में आचार्य जी ने अष्टादशाक्षरी मंत्र की ब्रह्मविद्या के रूप में रहस्यात्मक व्याख्या की है, इसी प्रकार "प्रपन्न कल्पवल्ली" नामक व्याख्या में आचार्य जी ने शरणागत मंत्र का रहस्य प्रकट किया है। "पंचकालानुष्ठान मीमांसा" में आचार्य जी मंत्र विद्या की साधना और अनुष्ठान की विधि की विवेचना करते हैं। "रहस्य शोड़षी—प्रपन्न कल्पवल्ली—पंचकालानुष्ठान मीमांसा" ये तीनों एक साथ "रहस्य मीमांसा" नामक पुस्तक में संकलित हैं। रहस्य शोडषी के आदि वन्दना के श्लोक के आधार पर इन तीनों को श्री निंबार्क की कृति माना जाता है। "रहस्य मीमांसा" वास्तव में निंबार्क संप्रदाय का तंत्र ग्रंथ है। इसमें युगल उपासना का गूढ़ रहस्य प्रकाशित किया गया है। वेदांत कामधेनु की पुरुषोत्तमाचार्य की टीका "मंजूषा" में आचार्य कृत "प्रपत्ति चिंतामणि" और "सदाचार प्रकाश" इन दो व्याख्यानों का उल्लेख मिलता है, पर आज ये दोनों अनुपलब्ध हैं। ज्ञात होता है ये दोनों भी "रहस्य मीमांसा" नामक प्रबन्ध ग्रथ के ही प्रकरण थे।

"प्रातः स्मरण स्तोत्र,'—"यमुना स्तोत्र"—"श्री कृष्णस्तवराज" आदि स्तोत्र छंद श्री निंबार्क के नाम से ही प्रसिद्ध हैं। परन्तु इनकी प्रामाणिकता स्वीकार करने के लिये शोध की आवश्यकता है। वैसे ये स्तोत्र

---

भाव व्यंजित हो रहा है। प्रसिद्ध है कि श्रीं हरिवंश जी, श्री जी के अभिन्न शिष्य थे। कुछ भी हो यह रहस्य है।

किसी संप्रदाय के प्राचीन संत द्वारा ही लिखे गये हैं। प्राप्त ग्रंथ सभी प्रकाशित हैं।

श्री निंबार्क की रचनाओं के अनुशीलता से ज्ञात होता है कि वे उच्चकोटि के सिद्ध परमभावुक रसिक आचार्य थे। ब्रह्मसूत्र वाक्यार्थ १।१।१ सूत्र में आचार्य जी ने गुरु स्वरूप वर्णन में जो "लंपट" शब्द दिया है, वह "रसिक" अर्थ को व्यंजित करता है। सही बात तो ये है कि—अक्षर, परब्रह्म, सनातन अजन्मा, विभु, चैतन्य, ज्योति, ईश्वर आदि नामों से उपनिषदों में जिस तत्व का व्याख्यान किया गया है वह अंतःकरण में उठने वाले सहज आनन्द के नामांतर मात्र हैं। आनन्द ही चमत्कृत चैतन्य के रूप में उल्लसित होकर रस कहलाता है।[१] इस आनन्दमय ब्रह्म का अंतःकरण में स्फुरण होना ही रसानुभूति है, निरंतर रससिद्ध महात्मा को ही रसिक कह सकते हैं। श्री निंबार्क ऐसे ही परम रसिक महात्मा थे। निंबार्क के तीन प्रत्यक्ष शिष्यों का उल्लेख मिलता है, गौरमुख ऋषि उदुम्बर ऋषि और श्री निवास।

गौरमुख का नामोल्लेख हमें पुराणों में[२] भी मिलता है, वह भी प्रायः आरुणि (निंबार्क) के शिष्य के रूप में। अर्थात् उन्हें आरुणि गौरमुख कहा गया है। गौरमुख ऋषि ने "श्री निंबार्क सहस्रनाम"[३] स्तोत्र की रचना की थी। इस स्तोत्र की रचना प्रणाली पौराणिक युग की है।

उदुम्बर ऋषि ने वैष्णव धर्म की आचार संहिता बनाई थी जो कि "औदुम्बर संहिता" के नाम से प्रसिद्ध है। इसके अतिरिक्त "श्री निंबार्क विक्रान्ति" नामक २२० श्लोकों के खंड काव्य किंवा प्रशंसा स्तोत्र की रचना की थी जिसमें आचार्य जी के अवतार चरित का अलौकिक वर्णन किया है।

श्री निवास जी, परमभागवत नंदवंश के कुल पुरोहित महर्षि श्री

---

१. **अक्षरं परमं ब्रह्म सनातनमजं विभुम्।**
**वेदांतेषु वदंत्येकं चैतन्यं ज्योतिरीश्वरम्॥**
**आनंदः सहजस्तस्य व्यज्यते स कदाचन।**
**व्यक्ति सा तस्य चैतन्य चमत्कार रसाह्वया॥**

(अग्नि पुराण)

२. गौरमुखोऽरुणिः—ब्रह्मा० वै पु० ४।१३।२६॥
गौरमुखो.......ब्रह्मा० वै० पु० ४।२१।११॥

३. इसके अतिरिक्त निंवाक स्तव और निर्बाक कवच भी इन्हीं का कहा जाता है।

शांडिल्य के पुत्र थे। शांडिल्य महर्षि व्रजमंडल के प्रांत में ही निवास करते थे। श्री निवास बाल्यकाल में अति उद्धत थे। संभवत जैनों के प्रबल मत से प्रभावित थे। श्री शांडिल्य इनके औद्धत्य से दुखी थे। एक बार किसी प्रकार श्री निवास को पकड़कर श्री निंबार्क के पास ले गये (उस समय वे गोवर्द्धन के निकटस्थ नीम गाँव में रहते थे) श्री निंबार्क ने अपने दिव्य रसमय उपदेश से श्री निवास का औद्धत्य दूर कर दिया। श्री निवास ने आचार्य का शिष्यत्व स्वीकार किया और आचार्य की आज्ञा से वेदांत पारिजात सौरभ वाक्यार्थ पर "वेदांत कौस्तुभ" नामक भाष्य की रचना की।[१] भगवद गुणानुवाद का गान कर "लघुस्तवराज" बनाया। निंबार्क संप्रदाय में इन्हें ब्रह्मसूत्र का भाष्यकार माना जाता है। इनकी तपोभूमि गोवर्द्धन पर्वत के ललिता कुंड पर है। निश्चित ही इनका भाष्य परवर्त्ती भाष्यों का पथ प्रदर्शक, ऐसा सभी ब्रह्मसूत्र भाष्यों की निष्पक्ष पर्यालोचना से स्पष्ट जाना जा सकता है। श्री निंबार्क के बाद इन्हीं को प्राथमिकता दी गई है प्रायः संप्रदाय के सभी टीकाकारों ने इनका भक्तिपूर्वक स्मरण किया है। भाव में इन्हें पांचजन्य शंख का अवतार कहा गया है। श्री निवासाचार्य जी ही निंबार्क सम्प्रदाय की गद्दी के प्रवर्त्तक आचार्य हैं। श्री निंबार्क ने कोई गद्दी या मठ स्थापित नहीं किया था। गद्दी की परंपरा तो श्री निवास जी से प्रारम्भ हो गई थी पर निंबार्क संप्रदाय का कोई स्थाई मठ नहीं था प्रायः गोवर्द्धन की उपत्यका में ही आचार्य गण भजन किया करते थे। इस सम्प्रदाय के आचार्यों में कृष्ण लीला भूमि व्रजमंडल को ही अपनी बिहार भूमि बनाया था। व्रज से ही ये रस का प्रवाह प्रवाहित करते थे जिसके फलस्वरूप विश्व के सभी देशों और प्रांतों का ध्यान व्रज भूमि की ओर सदा आकर्षित रहा। वैसे प्रायः कितनी

---

१. श्रीनिवास जी ने अपने भाष्य के प्राक्कथन में स्पष्ट कहाहै—

"अथ श्री सनतकुमार संतति प्रवर्त्तकः परम कारुणिको मुमुक्ष्वनुग्रहाय भगवान श्री निंवार्कस्तद्‌व्याख्यानं शारीरक मीमांसा वाक्यार्थ रूपेण वेदांत पारिजात सौराभाख्यमतिगूढ़ं कृतवान्—अथ तु तदाज्ञया तदुक्त वर्त्मना तदनुग्रह कामेन तच्छिष्येण मया मृदुमितपदो वेदांत कौस्तुभस्तद् भावार्थ प्रकाशको विदुषामुपकाराय विरच्यते।"

[सनत्कुमार संप्रदाय के प्रवर्त्तक परम दयालु भगवान श्री निंवार्क ने मुमुक्षुओं के ऊपर कृपाकर शारीरिक मीमांसा ब्रह्मसूत्र की वाक्यार्थ रूप में व्याख्या करते हुए वेदांत पारिजात सौरभ नामक अतिगूढ़ रचना की, उन्हीं की आज्ञा से उन्हीं के उपदिष्ट शैली द्वारा उनकी कृपा की कामना से उनका शिष्य मैं संयमित पदों में वेदांत कौस्तुभ नामक वाक्यार्थ के भावार्थ प्रकाशक प्रवन्ध को विद्वानों के उपकार के लिये वना रहा हूँ।"]

ही बार मथुरा मंडल पर जैन बौद्धादिकों ने तथा क्रूर शासकों ने अपना पंजा जमाना चाहा परन्तु श्री निंबार्क सप्रदाय के आचार्यों द्वारा प्रभु की लीला भूमि सदा उन्मुक्त रही।[1] अभी तक निम्बार्क सम्प्रदाय के आचार्यों की क्रम बद्ध सही परंपरा प्राप्त नहीं है। श्री भट्ट जी से बाद की तो सही परंपरा प्राप्त है परंतु उनके प्रथम की परंपरा के प्रधान आचार्यों के ही चरित्र ज्ञात हैं। वि० सं० १७००-१७५४ में श्री नारायण देव जी ने संस्कृत छंदों में "आचार्य चरित्र" बनाया था, उसी में कतिपय संतों के चरित संकलित हैं। उसी को लोग परंपरा मानते हैं जो कि भ्रांति है। उसी चरित संख्या के अनुसार डा० भांडारकर आदि ने श्री निंबार्काचार्य का काल १२ वीं सदी निर्धारित किया है जो कि अनाधार है। हम यहाँ केवल उन आचार्यों का परिचय दे रहें है, जिन्होंने ग्रंथ निर्माण किये हैं।

श्री निंबार्क के वेदांन कामधेनु दश श्लोकी पर श्री पुरुषोत्तमाचार्य जी ने "वेदांत मंजुषा" नामक भाष्य लिखा है। आजकल प्राय: श्री राधा को प्रधानरूप से श्री हित जी ने ही उपास्य माना था, उन्हीं के प्रभाव से श्री भट्ट जी और हरिव्यास जी ने भी राधा को उपास्य माना और उन्हीं के काल में श्री निंबार्क के नाम से दश श्लोकी की रचना की गई। श्री पुरुषोत्तमाचार्य जी हरि व्यास जी के शिष्य थे उन्होंने दश श्लोकी की टीका बनाई। आदि धारणायें प्रस्तुत की जा रही हैं। इसमें एक ही भाव निहित है, वह यह कि श्री

---

१. कनिष्क काल ई० की पहली सदी में मथुरा, कश्मीर वौद्धों के सव्वथिवाद (सर्वास्तिवाद) के केन्द्रथे। कनिष्क ने एक गोष्ठी में वौद्धों को एकत्र किया था। उसमें वसुमित्र आचार्य थे।

अशोक ई० पू० २७० ई० में भी मथुरा वौद्धों का केंद्र था, अशोक के गुरु उपगुप्त और उनके शिष्य दीधिक उपगुप्त मथुरा में रहते थे।

ई० पू० २ सदी में यवन मिलिंद ने मथुरा आदि तीर्थों को ध्वंश किया था। ज्ञात होता है, पद्म पुराण के भागवत महात्म्य में तीर्थों पर जो यवनों के आक्रमण का उल्लेख है वह इसी का है।

ई० की चौथी सदी में फाह्यान चीनी यात्री ने मथुरा के निकट यमुना तट पर वौद्धों के २० संघारामों का उल्लेख किया है जिसमें ३० हजार बौद्ध थे।

१०१७ ई० में महमूद गजनवी ने मथुरा को ध्वंस किया था।

११९४ ई० में मथुरा पर मुगलों का साम्राज्य हुआ।

१६५८-१७०७ ई० में औरंगजेब ने ब्रज को ध्वस्त किया।

१७३९ ई० में नादिर शाह ने ब्रज पर अत्याचार किया। घनानंद कवि को मारा।

१७५७ ई० में अहमद शाह अव्वाली ने ब्रज को लूटा।

हरिवंश ही रसिक सम्प्रदाय के आदि आचार्य थे। उनके प्रथम रस की उपासना कदापि न थी अतएव जो भी रसोपासना सम्बन्धी ग्रंथ रचे गये वे सब हित जी के बाद रचे गये। इस उक्ति में कितना सार तथ्य है, इसका विवेचन शोधकों को स्वतः करना चाहिए। बिना मूल भाष्य और टीका ग्रंथों के देखे कुछ भी धारणा बना लेना या लिख देना ऐतिहासिक तथ्यों का हनन करना है।[1] श्री पुरूषोत्तमाचार्य कृत भाष्य को पढ़ने से यह धारणा निर्मूल सिद्ध हो जाती है। श्री पुरुषोत्तम जी ने दार्शनिक शैली से भाष्य किया है उसमें जैन, बौद्ध, शांकर आदि मतों का सतर्क निराकरण किया गया है। इनके भाष्य की शैली निश्चित ही श्री रामानुज के काल की है। हित जी को दर्शन और वेदांत से प्रयोजन ही क्या था वे तो नाभादास जी के शब्दों में श्यामाश्याम के अनन्य उपासक भजनीक थे। "श्री हरिवंश गोंसाई भजन की रीति सकृत कोई जानि हैं।" तो यह कैसे मान लिया जावे कि हित जी के बाद 'वेदांत रत्न मंजूषा' की रचना हुई। श्री पुरुषोत्तम जी विवरण कार कहे जाते हैं।

श्री निंबार्काचार्य के नाम से "सविशेष निर्विशेष श्री कृष्णस्तवराज" की रचना मानी जाती है। परंतु अभी तक पुष्ट प्रमाणों से इसे सिद्ध नहीं किया जा सका है। श्री विलासाचार्य इसके रचयिता हैं ऐसा ही बहुमत है। इसकी शैली भी दार्शनिक युग की है।

श्री देवाचार्य जी ने ब्रह्मसूत्र पर विस्तृत समीक्षात्मक टीका "सिद्धांत जाह्नवी" नाम से रची हैं। इस ग्रंथ में पृष्ठ ५६ पर "वेदांत रत्न मंजूषा" का उल्लेख है इसलिए ये श्री पुरुषोत्तमाचार्य के बाद के महानुभाव हैं।

श्री सुन्दर भट्ट जी ने "सिद्धांत जाह्नवी" पर "सेतु" नामक विवृत्ति लिखी थी जो कि चार सूत्रों पर ही प्राप्त है। "कृष्णस्तवराज" की "प्रपन्नसुरतरु मंजरी" नामक टीका तथा "मंत्रार्थ रहस्य" पर टीका भी इन्हीं की रची हुई हैं।

केशव काश्मीरी जी इस सम्प्रदाय के प्रसिद्ध प्रकांड विद्वान माने जाते हैं। इन्होंने ब्रह्मसूत्र के श्री निंवासाचार्य के भाष्य पर "वेदांत कौस्तुभ प्रभा" नामक विस्तृत व्याख्यान बनाया था, इसमें प्रायः पूर्ववर्त्ती सभी भाष्यों का खंडन किया गया है। गीता पर "तत्व प्रकाशिका" नामक टीका,

---

१. दश श्लोकी के श्लोकों को उद्धरण के रुप में श्री निंबार्काचार्य जी के प्रत्यक्ष शिष्य श्री निवासाचार्य ने अपने वेदांत कौस्तुभ ब्रह्मसूत्र भाष्य में यथा तथा दिया है, तब फिर किसी भी स्थिति में दश श्लोकी की रचना के काल निर्णय पर कुछ शेष नहीं रह जाता।

"मांडुक्योपनिषद् भाष्य "भागवत का वेदस्तुति भाष्य" आदि इनकी प्रौढ़ रचनायें हैं। इन्होंने भारत में तीन बार दिग्विजय की थी, इसलिए इन्हें दिग्विजयी कहा जाता है। प्राय: सामान्य रुप से निंबार्क सम्प्रदाय के अनुयायियों की धारणा है कि काश्मीरी जी गांगल भट्ट के शिष्य थे, परंतु काश्मीरी जी ने अपने सभी ग्रंथों में "श्री मुकुंदं गुरुं नत्वा" लिख कर श्री मुकुंद नामक गुरु की बन्दना की है। इससे ज्ञात होता है कि काश्मीरी जी के गुरु का नाम मुकुंद देव था। निश्चित ही गुरु परंपरा लुप्त है, कहीं भी मुकुंद देव नामक आचार्य का उल्लेख नहीं मिलता। यह विचारणीय विषय है, सांप्रदायिक विद्वान इस पर विचार करें। श्री काश्मीरी जी की एक प्रसिद्ध रचना तंत्र ग्रंथ "क्रम दीपिका" भी है। जिसमें भगवद् उपासना के मांत्रिक प्रयोग बतलाये गये हैं।

श्री केशव काश्मीरी जी ने जो भाष्य आदि बनाये और दिग्विजय की तथा जो सिद्धि के चमत्कार उन्होंने दिखलाये उससे प्राय: काश्मीरी जी को श्री निंबार्क का अवतार मान लिया गया। इनके दिग दिगंत व्यापी प्रभाव से संपूर्ण भारत का वैष्णव समाज अभिभूत हो गया था।

इनके शिष्य श्री भट्ट जी हरियाना के हिसार शहर के गौड़ ब्राह्मण थे। इन्हीं को श्री केशवाचार्य जी ने अपनी गद्दी में अभिषिक्त किया था। मथुरा के यमुनातट में ध्रुव टीला में आपकी एवं गुरूदेव केशव काश्मीरी जी की समाधी स्थल बनी है।

श्री भट्ट जी ने सांसारिक बंधनों से उद्धार करनेवाली भक्ति की दीक्षा ली थी[१]। उन्होंने श्री निंबार्काचार्य की प्रतिपादित हृदयान्तर्गत वृन्दावन की उपासना का रसमार्ग सर्व प्रथम हिन्दी साहित्य में गान किया था। इसीलिये वैष्णवजन इन्हें आदि वाणीकार मानते हैं। इन्होंने "युगल शतक" के सौ पदों में नंदनंदन और वृषभानुनंदिनी की निकुंज के अद्वैत रस की मधुर भाव संवलित ललित लीला को गाया है। श्री भट्ट जी ने अंत:करण वृन्दावन के बाहर कुछ भी नहीं देखा इसीलिये अपने रसिक भक्तों को भी यही आज्ञा दी कि—

**"विपिनराज सीमा के बाहर हरिहूँ को न निहार"**

भक्तमाल में नाभा दास जी भी इस अंतस्थ घट रस को प्रकट करने वाले श्री भट्ट जी को ही कहते हैं। ये इस रस के अगाध सागर थे इस घन सागर की एक बिंदु से रसिक वैष्णव समाज के मनों को मोद प्राप्त हो

---

**१. "भव निस्तारन हेत देत दृढ़ भक्ति सबनि नित" —नाभादास जी**

गया ।[१] उनकी दिव्य धारणा की एक झलक पद में मिलती है—

**"सेव्य हमारे श्री प्रिय प्यारे वृन्दाविपिन विलासी ।**
**नंदनंदन वृषभान नंदिनी चरन अनन्य उपासी ।।**
**भक्त प्रनय बस सदा एक रस विविध निकुंज निवासी**
**श्री भट युगल रूप बंसीबट सेवत सब सुख रासी ।।"**

इनके युगल शतक में दस पद सिद्धांत के, छब्बीस पद ब्रजलीला के, सोलह पद सेवा सुख के, इक्कीस पद सहज सुख के, आठ पद सुख के और उनतीस पद उत्सव सुख के हैं ।

श्री भट्ट जी के शिष्य श्री हरिव्यास जी ने "युगल शतक" पर "महावाणी" नाम से एक भाष्य किया है । इसके अतिरिक्त श्री निंबार्काचार्य जी की दश श्लोकी पर "सिद्धांत रत्नांजलि" नामक सरस टीका लिखी है । नाभाजी और घनानंद जी के पदों से ज्ञात होता है कि उन्होंने देवी को दीक्षा दी थी, आज भी पंजाब में वह वैष्णवी देवी के नाम से प्रसिद्ध स्थान है । श्री हरिव्यास देवजी के प्रधान बारह शिष्य थे, सभी रसोपासक और जगदुद्धारक थे । सभी ने भारतवर्ष में भ्रमण कर वैष्णव मत का प्रचार किया अनेक मठों की स्थापना की उनमें स्वभूदेवाचार्य जी तथा परशुरामदेव जी सबसे अधिक सिद्ध महात्मा थे । स्वभूदेव जी ने अनेक मठ स्थापित किये । इस समय भारत में स्वभूदेव जी की परंपरा के निंबार्क संप्रदायी शिष्य अधिक हैं । श्री परसुराम देव जी हरिव्यास देव जी के भतीजे थे । हरिव्यास जी के भाई हरिभक्त शरण जी के दो पुत्र थे—श्री परशुराम जी एवं वासुदेव जी ।[२] ये परिवार नारनौल का प्रतिठित गौड़

---

१. **"श्री भट सुभट प्रकट्यौ अघट रस रसिकन मन मोद धन"**
नाभाजी

[निश्चित ही हरिदास जी, हरिवंश जी आदि रसिकोपासक श्री भट्ट जी द्वारा प्रकट रस परिपाटी के अनुकर्त्ता संत है । हरिदास जी ने "केलिमाल" तथा हरिवंश जी ने "चौरासी जी" में अघट रस का गान किया है]

२. श्री परशुराम जी ने अपने पदों में अपना वंश परिचय दिया है—
**"वंश हरिभगत परसुराँ, श्री गुरू श्री हरिव्यास"**

श्री निंबार्क पीठ प्रयाग जो कि परशुराम जी के वंशजों की आचार्य पीठ है उनमें प्राचीन "लेखपत्र" हैं । उनमें भी हरिभक्त जी के पुत्र ही लिखे गये हैं ।

डा० बलदेव उपाध्याय जी ने 'भागवत संप्रदाय' नामक पुस्तक पृष्ठ ३२९ में श्री परशुराम जी के परिचय में भ्रांतिवश परशुराम जी को श्री

ब्राह्मण-कुल था। श्री हरिव्यास जी ने अपनी विरक्त गद्दी का अधिकार परशुराम देव जी को दिया। श्री परशुराम देव जी के भाई श्री वासुदेव जी को दीक्षा देकर गृहस्थ गद्दी प्रदान की। श्री परशुराम जी ने राजस्थानी मिश्रित ब्रज भाषा में उपदेश दिये थे उनके उपदेशों का संग्रह "परशुराम सागर" है। गोस्वामी तुलसीदास जी के समकालीन होने के कारण उनकी रचना में गोस्वामी जी का पर्याप्त प्रभाव है। इनका भ्रमण क्षेत्र राजस्थान और ब्रजमंडल ही अधिक रहा है। इनकी समाधि पुष्कर में बनी हुई है। इन्होंने जो स्थान स्थापित किये वे परशुराम द्वारे कहलाते हैं। श्री वासुदेव जी ने "भक्ति चंद्रिका" में भगवत सेवा का विधान किया है। इनके पौत्र श्री ब्रजलाल शरण जी ने "भक्ति चंद्रोदय" की रचना की, जो कि नारद भक्ति सूत्र की टीका है। ये दोनों संस्कृत ग्रंथ हैं। स्वामी मुरलीधर जी ने सर्व प्रथम हिन्दी में "श्री निम्बादित्य चरित" नामक आचार्य जी का प्रामाणिक चरित्र लिखा था। इनकी हिन्दी की अनेक गद्य पद्यात्मक रचनायें हैं।

इनके अतिरिक्त श्री वृन्दावन शरण जी की "गीतामृत गंगा" श्री गोविन्द शरण जी की "हरिहर सुयश भास्कर" श्री नारायण देव जी की "आचार्य चरित" आदि समादृत रचनायें हैं।

श्री निम्बार्क सम्प्रदाय में संगीत सम्राट स्वामी हरिदास जी, नागादस जी आदि प्रसिद्ध सन्त हुए हैं। इनका वैष्णव समाज में बड़ा समादर है। गोस्वामी हित हरिवंश जी की रचनायें भी वैष्णवों की आदर्श रचनायें हैं। इनकी साधना रसोपासकों के लिए अनुकरणीय मानी गई है। जैसा कि ऊपर लिख चुके हैं कि श्री निंबार्क सम्प्रदाय में कोई आचार्यों की क्रमबद्ध शृंखला या मठ नहीं था। मठ या परंपराओं का क्रमिक इतिहास श्री हरिव्यास देव जी के समय से ही उपलब्ध है। उसमें भी मिथ्या दंभ और उच्चावच भाव के कारण खींचतान हुई है। सभी अपने को बड़ा और श्रेष्ठ कहने की चेष्टा करता रहा है। शांकर मठों के समान यहाँ कोई मठ समाम्नाय का नियम नहीं रहा है, जिस नियम के अनुसार कोई अपने को ऊँचा कहने का दावा कर सके। वास्तविकता तो यह है कि जो भी महात्मा साधक और भक्त हुए हैं, वे सभी उच्चतम मान्य हैं, सारा विश्व उनके समक्ष

---

वासुदेव जी के पुत्र लिख दिया है। उन्हें वह ज्ञात नहीं है कि इस ग्रंथ का प्रणेता श्री वासुदेव जी की रक्त परंपरा में ही है। श्री परशुराम जी तो वासुदेव जी के गुरु सदृश्य बड़े भाई थे। हमारा वंश हरिव्यासी नाम से प्रसिद्ध है, क्योंकि उनकी वंश परंपरा से रक्त संबंध है।

विनयावनत होता है। मठों का नियम बनाना या मठों की स्थापना उच्च साधकों के लिए नगण्य वस्तु है। जिन महात्माओं ने मठों की स्थापना की भी थी, वह केवल संसार को क्रमिक रूप से उपदेश और साधना प्राप्त होती रहे इस आदर्श के लिए ही थी। यदि इस महत कार्य की पूर्ति मठों मन्दिरों आचार्य पीठों से न होकर स्वत: ही पारस्परिक झगड़े होते रहें तो उससे बड़ा कोई उन आचार्य पीठों के लिए अशोभनीय और लज्जास्पद कार्य नहीं है। सभी साधक आचार्य रूप से पूज्य, वरिष्ठ और आदरणीय हैं। समान सिद्धांत और समान साधना होते हुए भी श्री राधावल्लभी संप्रदाय की अति विभिन्नता हो जाना, तथा इस समय भी स्वामी हरिदास जी को विष्णु स्वामी मतावलंबी सिद्ध करने की सतत् चेष्टा ये दोनों सांप्रदायिक उच्चावच भाव और अहं मान्यता के ज्वलंत उदाहरण हैं। जिन आचार्य परंपराओं में साधना और आचार की अविच्छिन्न परंपरा रही है वे ही अधिक पूज्य और सम्मान्य पीठ मानी गई हैं। बढ़ते हुए भौतिक साधनों के वैभव से संपन्न होने के कारण भी कुछ परंपरायें श्रेष्ठ मानी गई हैं, परंतु यह तो अस्थाई श्रेष्ठता ही है। स्वामी हरिदास जी के पास क्या वैभव था ? क्या उनकी साधना के समक्ष वैभव सम्पन्न अपनी श्रेष्ठता सिद्ध कर सकते हैं ? अथवा वाह्य आवरण को त्यागी रूप से प्रदर्शित करना और आंतरिक रूप से सांसारिक साधनों को संकलित करना भी श्रेष्ठता का सूचक नहीं कहा जा सकता है। किसी आश्रम के वाह्य आचरण से आश्रम की श्रेष्ठता कदापि स्वीकार नहीं की जा सकती। इसीलिए वैष्णवों ने वाह्य के साथ आभ्यंतर आचार और अनाश्रित कर्म योग के सिद्धांत के आधार पर अपनी साधना स्थापित की थी। उससे जो सम्पन्न परंपरा रही है वही पूज्य महान परम्परा है, चाहे वह गृहस्थों की हो अथवा वैरागियों की। केवल महान्त या साधु लिखने से अथवा वाह्य रूप रेखा से कोई महन्त साधु नहीं कहा जा सकता। स्वामी हरिव्यास जी ने आचार्य परंपराओं की स्थापना कर संप्रदाय में नई चेतना और प्रेरणा दी, इसलिए यह संप्रदाय हरिव्यासी संप्रदाय के नाम से प्रसिद्ध हो गई। स्वामी हरिदास की साधना पद्धति का भी संप्रदाय पर व्यापक प्रभाव पड़ा है। उनकी जो विहारी जी की आराधना थी उसके आधार पर बिहारी जी की उपासना सभी परंपराओं में प्रचलित हो गई। आज बिहारी जी के अधिकांश मंदिर निम्बार्क संप्रदायं के हैं। स्वामी जी के शिष्य देवेन्द्र जी ने प्रणामी संप्रदाय की स्थापना तथा श्री चरणदासी जी ने शुक सम्प्रदाय की स्थापना की थी। इसे चरणदासी भी कहते हैं। ये दोनों परंपराएँ निंबार्क संप्रदाय की हैं। गोस्वामी हितहरिवंश जी की प्रचलित सेवा प्रणाली और अनन्यता का संप्रदाय में बड़ा महत्व हैं।

वास्तविकता तो यह है कि भागवत सम्प्रदाय के आदि कालीन आचार्य विष्णु स्वामी ने जो भगवतसेवा में राजसोपचार वैभव सम्पन्न भगवत् परिचर्या का विधान कहा था उसको सही अर्थों में गोस्वामी हित हरिवंश जी ने ही प्रचलित किया। इनकी हित भाव संवलित सेवा पद्धति का सभी सम्प्रदायों ने अनुकरण किया। मंदिरों में भोग राग शृंगार की प्रचुरता इन्हीं के काल से हुई। सात आरती पाँच भोग तथा सामयिक सेवोपचार का क्रम हित जी ने ही स्थापित किया था। इस विशेषता को निष्पक्ष रूप से सभी सम्प्रदायों को स्वीकार करना पड़ेगा। नाभादास जी की हित जी के लिए कही गई "श्री व्यास सुवन पंथ अनुसरै" उक्ति का यही अर्थ है।

### रसोपासना में हित तत्व

श्री निंबार्काचार्य जी की रसोपासना में हित भाव की एक विशेष महत्ता है। रस स्वरूप ब्रह्म की अनुभूति हित मार्ग की उपासना ही सर्वश्रेष्ठ मार्ग है। हित साधन आध्यात्मिक योग साधना है। कौषीतकी ब्राह्मणोपनिषद् की प्रतर्दन विद्या में हितोपासना का उपदेश इंद्र ने प्रतर्दन को दिया है। वहाँ प्राणपति ब्रह्म की उपासना को ही हित की उपासना कहा गया है। ब्रह्मसूत्र १।१।२९ "प्राणस्तथाऽनुगमात्" भी प्राणपति को ब्रह्म ही कहता है। इस सूत्र के वाक्यार्थ में श्री निंबार्क जी परमात्मा के हिततम गुण को प्राण का कारण बतलाते है और ब्रह्म मानते हैं। सू० १।१।३० में इस हित को भूमा कहा है। भूमा विद्या ही निम्बार्क संप्रदाय की प्रधान उपासना है। सू० १।३।८ में श्री निंबार्क प्राण से श्रेष्ठ भूमा को लिखते हैं। प्राणपति होने से हित प्राण से भिन्न भी है और अभिन्न भी है ऐसा सू० १।१।३१ और सू० १।१।१।३२ में कहा गया है। प्राण तत्त्व तो हित का अनुगमन करता है। प्राण जीव वाची है, यही आत्मा है। हित में रमण करने के कारण आत्माराम है। हित का सुख बहुल है, इसलिए उसे भूमा कहा गया है यह सांसारिक बाह्य सुख से महान् आभ्यंतर सुख है। कौषीतकि का तात्पर्य शुद्ध बुद्ध मुक्त जीव से है। जिसकी दृष्टि में सांसारिक सुख अत्यंत हेय हों। (कुत्सितं सीतं यस्य सः) उसे कुषीतक कहते हैं। कुषीतक का पुत्र ही कौषीतकि है। ब्रह्मसूत्र १।१।८ "हेयत्वावचनाच्च" के वाक्यार्थ में श्री निंबार्क जी ने "सर्वज्ञेन हितैषिणा इत्यादि में परमात्मा के हितैषी इत्यादि महान गुणों की विशेषता बतलाते हुए, सांसारिक प्राकृतिक जड़ सुखों को हेय माना है। हित, प्राण का अंगी है—प्राण हित का अंग है। इस प्रकार अंगांगी भाव से इन दोनों में द्वैताद्वैत सम्बन्ध है। हित तत्त्व अज्ञेय अनिर्वचनीय है। यही रस है इसी को प्राप्त कर प्राण आनंदित होता है।

हित प्राण का पोषक, कल्याणमय, कृपालु अमृत, आनंदमय उपास्य तत्त्व है।[1] हित ही प्रेम तत्व है। सकाम प्रेम की वासना है—निष्काम प्रेम हित है। कौषीतकि ब्राह्मण में सकाम और निष्काम दोनों प्रकार की उपासना का वर्णन किया गया है। उनमें निष्काम उपासना को महत्व देकर उसे हित कहा गया है। भगवान श्री निंबार्काचार्य जी उसे ही अपना उपास्य मानते हैं। हित की प्राप्ति लीला द्वारा होती है। किं वा लीला में ही हित की अनुभूति होती है। लीला से ही भक्त उपासक को आनंद मिलता है, वही जीव की पुष्टि है। ब्रह्म की लीला ही भक्तों के पोषण के लिए होती है।[2] यह पोषण ही हित है। जीव को सांसारिक दुःखों का अहर्निश अनुभूति होती है। हितैषी परमात्मा ने ऐसी दुःखात्मक सृष्टि क्यों की ? इस प्रश्न का समाधान ब्रह्मसूत्र में "लोकवत्तु लीला कैवल्यम्" कहकर दिया गया है। अर्थात् लीला के लिए ही परमात्मा ने सृष्टि की है। लीला में ही सुख की अनुभूति होती है। दुःखात्मक जगत में लीला ही एकमात्र सार है। दुःख तो मनमाने की बात है, इसलिए मन को भगवत् लीला में संलग्न कर दिया जावे दुःख का पूर्ण अभाव हो जावेगा। मन की जैसी कामनायें होती हैं, वैसा ही मनुष्य कर्म करता है। जैसा कर्म होता है वैसा ही फल प्राप्त होता है। नश्वर सांसारिक कामनाओं से सांसारिक कर्म होता है, उसका वैसा ही दुःखात्मक फल मिलता है। दिव्य भगवत् लीला की कामना से नैष्कर्म्य स्थिति होती है अतएव उसका फल भी निस्त्रैगुण्य, अकथ्य होता है, यही हित, श्रेय कल्याण, का अजर अमर मार्ग है। यही अपार सुख रुप भूमा है। वृरहदारण्यकोपनिषद् के लीलोपाख्यान में ऐसा ही सिद्धांत सिद्ध किया गया है—

**"स यथा कामो भवति, तथा क्रतुर्भवति ।**
**यथा क्रतुर्भवति तत्कर्म कुरुते, यत्कर्म कुरुते तदभिसंपद्यत ।।"**

भगवत् लीला में ही हित तत्व का प्राकट्य होता है। लीला तीन प्रकार की है वास्तवी, प्रातिभासकी और व्यावहारिकी। वास्तवी लीला

---

१. कौषीतकि ब्राह्मण—२।२।३।१—२।३।८ में हित के यही अर्थ प्रयुक्त किये गये हैं और उसके उपासना की आज्ञा दी गई है।

(i) "यत्ते सुसीमे हृदये हितमंतः प्रजापतौ" इसमें पोषक अर्थ है।

(ii) "यत्त्वं मनुष्याम हिततमं मन्यते" इसमें कल्याणमय अर्थ है।

(iii) "हितमामापुरमृतमुपास्वेति स प्रनंदोऽजरोऽमृत"—इसमें हित को अमर, अजर, आनंदमय, उपास्य कहा गया है।

२. **"लीला च भक्तजन लिलायिषैव"**

पद्म पुराण

का स्थल अक्षर ब्रह्म अर्थात् हृदयस्थल है। साधक हर अवस्था, हर स्थिति और हर काल में निरंतर अपने अंत:करण में श्री वृन्दावन की निकुंज लीला का साक्षात्कार कर सकता है। जो लीलायें गोलोक के नित्य वृन्दावन में होती हैं उन्हीं का प्रतिभास हृदय में होता है, उन्हें ही प्रतिभासिकी लीला कहते हैं। जो लीलायें ब्रजभूमि में व्यावहारिक रूप से होती है वे व्यावहारिकी हैं।

अभिनय द्वारा दिखलाई जाने वाली लीला व्यावहारिकी है (जैसे कि रामलीला और रासलीला के रूप में अभिनीत होने वाली लीलायें) यह क्षर लीला है। हृदय में होने वाली लीला अक्षर है। नित्य गोलोक धाम में होने वाली लीला क्षर और अक्षर से अतीत अकथ्य नित्य लीला है। जिसका प्रतिभास मात्र हृदय की वास्तवी लीला में किया जा सकता है। वास्तवी लीला का मूर्त्त रूप ही व्यवहारिकी लीला है। भगवान श्री निंबार्काचार्य जी ने ब्रह्म सूत्र के वाक्यार्थ मे मन को ही प्रतीक मानकर हृदय के अंगुष्ठ परिमाण में दिव्य वृन्दावन की नित्य लीला के प्रतिभास के रूप में वास्तवी लीला को ही अपना साधन सिद्धांत कहा है। यही क्रम मुक्ति है और हित साधन का सिद्धांत है।[१]

योगदर्शन के अनुसार शरीर में ७२ हजार नाड़ियाँ हैं जिनमें सुषम्ना नाड़ी-शरीर के मध्य में स्थित है, उसमें सात चक्र हैं। मेरुदंड के नीचे मूलाधार चक्र, लिंग के सम्मुख स्वाधिष्ठान चक्र, नाभि में मणिधार चक्र, हृदय में अनाहत चक्र, कंठ में विशुद्ध चक्र, भ्रू-मध्य में आज्ञा चक्र और ब्रह्म रंध्र में सहस्रार चक्र है। नाभि के मणिधार चक्र में पराशक्ति की स्थिति कही गई है। जिसकी तीन अवस्थायें हैं—पश्यंती, मध्यमा और वैखरी। इन्हीं को इच्छा, ज्ञान और क्रिया शक्ति कहा गया है। इन्हें त्रिकोण के रूप में समझाया गया है—

इच्छा　　　　ज्ञान

परा

क्रिया

---

१. ये सिद्धांत भगवान श्रीनिंवर्काचार्य के समय से ई० की तीसरी सदी गुप्त काल तक आलमदार संहिता, वृहत सदाशिव संहिता, सनत्कुमार संहिता, औदुम्बर संहिता, ब्रह्म संहिता, गर्ग संहिता आदि के रूप में विभिन्न भक्तों द्वारा संकलित किये गये। नारद पांचरात्र की अधिकांश संहिताओं का संकलन भी इसी काल का है। पुराण और संहिताओं का संकलन साथ-साथ होता रहा। ये सिद्धांत कोई नये नहीं हैं। वैदिक प्रतिपाद्य सिद्धांत का संकलन ही लौकिक भाषा में पुराण और संहिताओं के रूप में हुआ है।

## इच्छा ज्ञान परा क्रिया

योगदर्शन में साधनाओं द्वारा पराशक्ति प्राणवायु को मणिधार चक्र से उठाकर हृदय के अनाहत चक्र में स्थित कर देने पर पश्यंती अवस्था होती है, यही ज्ञानशक्ति का कोण है। इसमें बीजांकुर होता है, जिसे समाधि की प्रथम अवस्था कहते है। फिर उस बीज में दो पत्तियाँ निकलती हैं जो कि आपस में चिपकी रहती हैं, यह मध्यमा अवस्था है। यही इच्छाशक्ति का कोण है, जिसे समाधि की मध्यम अवस्था कहते हैं। दो पत्तियों के पारस्परिक संघर्षण से जो रस क्षारण होता है, वह क्रियाशक्ति का कोण है। इसे समाधि की चरमावस्था कहते हैं, यही निर्जीव निर्विकल्प समाधि है, इसमें व्रह्म के प्रकाश की अनुभूति होती है।

ज्ञान, इच्छा और क्रिया—सत, चित् और आनंद के हेतु हैं। समाधि में क्रमश: सत्, चित् और आनंद की अनुभूति होती है। निरंतर समाधि की अवस्था में पराशक्ति से परिवेष्टित सच्चिदानंद की समवेत (इकट्ठी) स्थिति हो जाती है। इस स्थिति में सब भिन्न होकर भी अभिन्न और अभिन्न होकर भी भिन्न ही रहती है। यही योगदर्शन का भेदाभेद तत्त्व है। योगदर्शन में मणिधार चक्र में सत् की स्थिति कही गई है। उस सत् को अनाहत चक्रस्थ चित् तत्त्व में ऐक्य कर देने से जो अद्‌भुत रस क्षरण होता है वही आनंद तत्त्व है। अद्वैतवादी केवल आनंदानुभूति को ही एकमात्र अखंड रसानुभूति या व्रह्मानुभूति कहते हैं। किंतु द्वैताद्वैतवादी सच्चिादनंद सकल को व्रह्मानुभूति मानते हैं। इनकी दृष्टि में सत् और चित् के मिलन से जो आनंद रस प्रवाहित होता है उसे प्राप्त कर सत् सच्चिदानंद हो जाता है। सत् को चिदानंदमय रूप प्राप्त कराने वाली क्रिया को ईश्वर प्राणिधान कर देना ही भक्तियोग है। भक्तियोग की साधना को भगवान श्री निंबार्काचार्य जी ने अपने व्रह्मसूत्र वाक्यार्थ में तथा दशश्लोकीमें वर्णन किया है। इनके मत में गोलोक धाम में होने वाली दिव्य लीला को इस शरीर के अंदर ही अनुभव करे। सहस्रार चक्र से जो धारा जो सुषुम्ना रूप से मणिधार (नाभि) चक्र तक प्रवाहित हुई है, उसे उलटकर ऊपर की ओर प्रवाहित करने से वह राधा रूप हो जावेगी। अर्थात् जीव मायाबद्ध होनेके कारण अधोगति पाता है यदि उसे ऊर्ध्वगति प्राप्त करना है तो राधा के समान आचरण करना चाहिये निश्चित ही उसका मोक्ष हो जावेगा। राधा को गुरु मानकर स्वयं राधाभाव का आचरण करना ही साधना प्रणाली है।

प्राणवायु जो कि पराशक्ति का प्रतीक है उसे राधा मार्ग से हृदयस्थ आठ कुंजों वाले वृन्दावन में ले जाकर [असुदेव = प्राणपति] वासुदेव में अर्पित करना ही भक्तियोग की पश्यंती अवस्था है। प्राण के समर्पण के द्वारा प्राणपति के चरणों से जो अमृत रस क्षरित होता है, उसे पान कर प्राण तृप्त हो जाता है। यह जीव की दास्यभाव की उपासना है। इस चरणामृत की विशेषता ऋग्वेद में इसी रूप से कहीं गई हैं—"ओन्तदस्य प्रियमभिपाथो अश्यान्नरो यत्र देवयवो मदन्ति। उरुक्रमस्य सहि बंधुरित्था विष्णोः पदे परमध्व उत्सः।"

[सभी प्रकार से प्रिय भगवान के चरणामृत को पान करने से देवत्व की प्राप्ति की इच्छा वाले नर उसे पाते हैं। परमात्मा के चरणों में जो मधुरता है, उससे स्पृष्ट जल (रस) मधुर अमृत है]

इस चरणासृत को पान कर जीवात्मा की जो तृप्ति है वहाँ भक्ति योग की मध्यमावस्थाहै। यह रस ही वास्तविक कल्याणप्रद हित तत्त्व है। व्यावहारिक जगत में यही गंगा जल है। दिव्य गोलोक में जिस चरणामृत का नित्य प्रवाह होता है उसका प्रतिभास मात्र हित तत्त्व है। यह श्री निंबार्क की दास्यवत भाव उपासना की साधना है। इसे दश श्लोकी में "नान्यागतिः कृष्ण पदारविन्दात्" पद में वर्णन किया है। इसी प्रकार एक सखा का एक दूसरे से जाकर मिलना और उस मिलन से सख्य रस का क्षरित होना, उस रस से सखा की तृप्ति होना ही हित तत्व प्राप्ति है। वैसे ही अबोध बालक का निर्भय होकर परम पिता की गोद में बैठना तथा उस पिता से वात्सल्य रस की प्राप्ति होना ही पोषण है जो कि हित है। ये दोनों मित्रवत भाव और पुत्रवत भाव की साधना है। प्रियावत भाव में हृदयस्थल वृन्दावन में प्रिया का प्रियतम के साक्षात्कार होने पर हृदय में प्रेम का अंकुरित होना ही पश्यंती अवस्था है तथा प्रेम वश दोनों का एक दूसरे से आलिंगित होकर रमण करना मध्यमावस्था है। इस दिव्य मिलन में जो आनंद रस का प्रवाह है वही हित तत्त्व है। हित तत्त्व में प्राण भी हित है, प्राणपति भी हित है, इन दोनों का मिलन स्थल भी हित है तथा मिलाने वाली सहचरी भी हित है। इन सभी से अंश और अंशी संबंध है इसलिए ये सभी हित के अंश होने के कारण हित हैं। इसलिए त्रिविध प्राण, प्राणपति और सहचरी इन भोक्ता, भोग्य और प्रेरिता को हित मानना होगा। हित की उपासना ब्रह्म की उपासना है, अतएव ये तीनों भी ब्रह्म रूप उपासना में माने जावेंगे जैसा कि—"सर्व हि विज्ञानमतो यथार्थकं" आदि दश श्लोकी के श्लोक में श्री निंबार्क जी ने कहा है। स्वामी शंकराचार्य भी "त्रिविधं

ब्रह्मोपासनं विवक्षितं प्राण धर्मेण, प्रज्ञा धर्मेण, स्वधर्मेण च" कहते हैं। अर्थात ब्रह्म की उपासना तीन रूपों से होती है, प्राण धर्म, प्रज्ञा धर्म और स्व धर्म के रूप से। यहाँ प्राण (जीव) प्रज्ञा (सहचरी) और स्व (परमात्मा) है। श्रीमद्भागवत के पुरंजनोपाख्यान में भी इसी का वर्णन किया गया है।

हृदय के अनाहत चक्र में कमल के आकार का मांस पिंड है जो कि सुषुम्ना नाड़ी पर स्थित है। वह मांस पिंड आँतों से घिरा होने के कारण "पुरीतत" कहलाता है। इस पुरीतत के मध्य में आकाश है, उसी में उपासना ध्यान करने का विधान है। सुषुम्ना नाड़ी से सम्बद्ध ७२ हजार नाड़िया हैं जिन्हें उपनिषद् में, "हिता" नाड़ियाँ कहा गया है। वहाँ हिता का तात्पर्य सहयोगी या उपकारी किया गया है। इन हिता नाड़ियों के अनेक रङ्ग गहे गये हैं।[1] सुषुम्ना नाड़ी से विशेष सम्बन्धित अंकुरित होने वाली कुहू, वरुणा, यशस्विनी, पिंगला, पूषा, पयस्विनी, सरस्वती, शंखनी, गांधारी इड़ा, हस्तिजिह्वा, विश्वोदरा आदि १२ नाड़ियाँ हैं। ये सुषुम्ना की विशेष हितैषी नाड़ी हैं। हृदय के अनाहत चक्र में आठ दल का अरुण (लाल) वर्ण का कमल है जिसके मध्य में छः कोण हैं। मध्यवर्त्ती कोण का रंग धूम्र है। इस अनाहत यंत्र के ईशान कोण में जिस प्रधान नाड़ी का सम्बन्ध है उसी से इस यंत्र का संचालन होता है।[2] ईशान कोण की नाड़ी में ही मुख्य प्राण तत्त्व का स्थाई निवास है। यह प्राण ही अयास आंगिरस है, जो कि अंगों का सार रूप प्रधान रस तत्त्व है। संपूर्ण नाड़ियाँ इसकी अंग है।[3] हृदय से संबद्ध १०१ मुख्य नाड़ियाँ है। इनमें सुषुम्ना ही प्रधान है।[4]

शरीर की सोलह कलाओं के पूर्ण संयोग से तथा भक्तिमय विचार होने पर जब अंतःकरण की निर्मल स्थिति हो जाती है तभी हृदय के अनाहत चक्र का संचालन हो जाता है। इसी को योगदर्शन, कुंडलनी चक्र का जागरण कहता है।

श्री निंबार्क जी, भक्ति योग से अंतःकरण में जो विशेष स्थिति घटित होती है, उसे परमात्मा की आह्लादिनी शक्ति का विलास कहते हैं। उनके मत में भगवती श्री राधा ही आह्लादिनी शक्ति हैं, जो कि सृजनात्मिका हैं, इसी के संयोग से उल्लासमय नूतन श्रृंगार प्रवाहित होता है। उसी में रस

---

१. वृह० ४।४।२०। कौषीतकि ब्राह्मण ४।४।१९॥
२. वृह० ६।३।५॥
३. वृहदारण्यक १।३।१९। ४. छंदोग्यो० ८।७।६।६॥
स्वामी शंकराचार्य जी ने ब्रह्मसूत्र भाष्य के दहराधिकरण में इसका विस्तृत विवेचन किया है।

की चरम विज्ञप्ति होती है। नाभि के मणिधार चक्र [जो कि राधा का बरसाना धाम है] से यदि सुषुम्ना की धारा को ऊर्ध्व गामी करें और अनाहत में ले जाकर उसको संयुक्त कर दें तो वहाँ उत्कृष्ट हित रस का सर्जन होगा।[1] सुषुम्ना ही अति हितवाहनी श्री राधा हैं। हजारों नाड़ियाँ उसकी सहयोगी हिता नाड़ियाँ हैं।[2] इनके समवेत रूप से अनाहत चक्र रूप हितमय वृन्दावन में संगठन और उद्वेलन से जो परमहित तत्त्व का प्राकट्य होता है वही ब्रह्मानुभूति है। यही नित्य वृन्दावन में होने वाले महारास की प्रातिभासिक लीला की अनुभूति है।[3]

श्री निंबार्काचार्य का स्वरूप भी रासमय ही है।[4] हृदय का अनाहत चक्र ही सुदर्शन का स्वरूप है। सोलह कलाओं के पूर्ण सहयोग से इस चक्र का संचालन होता है, इसीलिए आचार्य जी का अवतार सोलह कलाओं से पूर्ण पूर्णिमा को ही माना जाता है। नित्य गोलोक में आश्विन की पूर्णिमा से कार्तिकी पूर्णिमा तक महारस का संगठन होता है। कार्तिकी पूर्णिमा को उसका पूर्णतम उल्लास होता है। इसलिए कार्तिकी पूर्णिमा कोही आचार्य जी का प्राकट्य कहा गया है। हृदय कमल अरूण वर्ण का है उसमें इनकी निष्ठा होने के कारण इनको आरुणि कहा गया है।[5] उस कमल के मध्यस्थनील वर्ण को इनके शरीर का वर्ण माना गया। चक्र के छः कोणों के

---

१. कबीर ने इसी तथ्य की ओर इशारा किया है—
**कबिरा धारा अगम की सद् गुरु दई लखाय।**
**उलट ताहि सुमिरन करौ स्वामी शब्द लगाय॥**

२. आर्चार्यजी ने "अंगे तु वामें" आदि श्लोक में "सखी सहस्रैः परिसेवतं सदा" में हिता नाड़ियों के संयोग का ही विवेचन किया है।
[देखें दशश्लोकी]

३. रसमयः कश्चित् चमत्कार विशेषो रासः सच सर्वत्र व्याप्त सामरस्यात् "रसो वै सः" रस सच्चिदानंद शक्ति शिवक्यं रूपं तस्य विलासो रासः अनिर्वचनीय लीला चमत्कृतिः" हंस विलास पृष्ठ २७२,

[ब्रह्मानंद ही रास है, जो सर्वत्र व्याप्त है। यह रस शक्ति और शक्तिमान की एकता से प्रकट होता है। ब्रह्मानंद की क्रीड़ा रास है, वह अपाकृत लीला है जिसे शब्द द्वारा व्यक्त नहीं किया जा सकता]

४. **पंक्त्याकारेणेव सम्यक् चक्राकारेण वा प्रिये**
हंस विलास पृष्ठ १२३

५. **"परिसर पद्धतिं हृदयमारुणयो दहरम्"** भा० १०।८७।१८।
[आरुणि की हृदय की दहर उपासना की पद्धति प्रशस्त है]

इनकी स्वरूप स्थिति है अतएव इन्हें भगवान कहते हैं।[1] भगवान श्री निंबार्क के स्वरूप की कल्पना उनके द्वारा प्रचलित हितोपासना के आधार पर ही की गई है। प्रचलित चित्रों में उनका ऐसी ही रूप मिलता है। उनका यह यंत्र मय रूप है। इस रूप को उपास्य माना गया है।[2] इनका यह रूप वैष्णव मात्र का रक्षक और हितैषी है।[3] नारद पांचरात्र और कृष्ण यामल तंत्र में श्री निंबार्क की प्रतिपादित ब्रह्म विद्या का रहस्य इसी रूप में वर्णन किया गया है। इस हितोपासना की महत्ता भागवत में बड़े सुन्दर ढङ्ग से कही गई है—

**त्वदनुपथं कुलायमिदं आत्मसुहृत् प्रियव,**
**च्यरति तथोन्मुखे त्वयि हिते प्रिय आत्मनि च।**
**न बत रमंत्य हो असदुपासनयाऽत्महनो,**
**तदनुशया भ्रमंत्युरु भये कुशरीर भृतः॥**

भा० १०।८७।२२॥

[प्रभो यह शरीर आपकी सेवा का साधन होकर जब आपके पथ का अनुरागी हो जाता है तब यह आत्मा हितैषी सुहृद और प्रिय व्यक्ति के समान आचरण करता है। आप ही ऐसे जीव के सच्चे हितैषी प्रियतम और

---

१. **ज्ञान शक्ति बलैश्वर्य वीर्य तेजांस्य शेषतः।**
**भगवच्छब्द वाच्यानि बिनाहेयैर्गुणादिभिः॥**

वि० पु० ६।५।७४।

[ज्ञान, शक्ति, वल, ऐश्वर्य, वीर्य, तेज ये छः गुण जिनमें पूर्ण रूप से विद्यमान हों उन्हें ही भगवान कहते हैं]

२. नारद पाँचरात्र अहिर्बुध्न संहिता जिल्द एक पृष्ठ ८७ में सृष्टि को ब्रह्म की संकल्प शक्ति या क्रिया शक्ति का परिणाम कहा गया है। सुदर्शन को ही संकल्प शक्ति कहा है यही चलन चक्र है। इसी में भक्ति योगी चलते हुए अनाहत चक्र के रूप में नाद सुनते हैं।

अ० स० १।१४७।

३. सुदर्शन यंत्र में ही मन्त्र और देवताओं की स्थापना और ध्यान का विधान है यह रक्षा यंत्र है। रक्षा ज्योतिर्मयी और मंत्रमयी दो प्रकार की है। ज्योतिर्मयी रक्षा में सुदर्शन के अक्ष, नाभि, नेमि सहित संपूर्ण चक्र का ध्यान किया जाता है। मंत्रमयी रक्षा में अष्टादशाक्षरी ब्रह्म विद्या की उपासना होती है। सुदर्शन यंत्र की उपासना से विघ्न शांति होती है। यंत्र का अधिकार केवल ब्राह्मणों को ही है।

[अ० सं० १।१९३, २०४-२२५] एम० डी० रामनुजाचार्य द्वारा आड्यार लाइब्रेरी मद्रास से प्रकाशित।

आत्मा ही हैं। जो व्यक्ति शरीर पाकर भी आपके हित रूप की उपासना नहीं करते, आप में नहीं रमते, बल्कि अपने विनाशी शरीर के भोग-विलास को ही सुख मान कर उसमें रत रहते हैं वे अपना बहुत बड़ा अहित करते हैं। उन्हें पुनः पुनः कष्ट ही उठाना पड़ता है]

इस प्रसङ्ग में सांसारिक विषयजन्य सुख से अधिक हित का बहुल सुख कहा गया है और उसी को जीव का कल्याणकारी माना है। निंबार्काचार्य जी ने इस हितोपासना को मध्यमावस्था तक ही रखा वे अंतःकरण में ही रमण करते थे। इस रहस्य के उद्घाटन में उनकी वाणी एकदम मौन थी। उन्होंने इसको जो कुछ प्रकाशित किया वह भी रहस्य के रूप में ही। संस्कृत भाषा में यह रहस्य तंत्र ग्रंथों में कहा गया, परंतु उनमें भी वह रहस्य रूपक ही रहा। हिन्दी साहित्य में सर्व प्रथम श्री भट्ट जी ने इस अप्रकट हित तत्त्व को वैखरी रूप दिया अतएव उन्हें आदि वाणीकार माना गया। नाभा जी ही इन्हें आदि वाणीकार मानते हैं, उनकी दृष्टि में श्री भट्ट जी ही ऐसे निर्भय सैनिक थे जिन्होंने इस गोपनीय रस का उद्घाटन किया। रसिकों के लिए यह घने आनन्द की बात थी।[1] सामान्य नायक नायिकाभेद में रमने वाले साहित्यिकों के लिए श्री भट्ट जी की वाणी भी साहित्य की रसमय गीति ही समझी गई। साहित्यिक तो उनकी रचना को भी रीति काल की एक कड़ी ही समझते हैं परंतु हितोपासकों के लिए तो वाणी भी श्री निंबार्क जी द्वारा की गई हितोपासना का रहस्य ही है। श्री भट्ट जी की क्रोड़ में युगल रूप सदा विराजमान रहते थे। ये उनकी हित लीला का आनन्द लेते रहते थे। अपने हाथ से ही युगल प्रिया प्रीतम को भोग लगाने की बात ये कहते हैं—"हितू जिमाऊँ हाथ" श्री भट्ट जी रसिकों को आल्हादित करने के कारण हितू कहलाते थे। इनके पट्ट शिष्य श्री हरि व्यास देव जी अपने को हितू श्री भट्ट जी की सहचरी सखी कहते थे "हितू सहचरि हरि प्रिया हरषति।" श्री हरि व्यास जी के शिष्य स्वामी परशुराम जी ने भी सांसारिक सुखजन्य दुःखों से रक्षा करने वाले अंतस्थ प्रभु को हितू ही कहा और वे उसी को अपने पूर्वजों का उपासना का मार्ग बतलाते हैं—

**"परसा सुख संसार को सो संसारहि खाय।**
**बस्यौ न हिरदय हरि हितू रक्षा करण सहाय॥**
**अति हित सों हरिनाम को गावैं सबै गिरंथ।**
**जगत उजागर सब कहैं परसुराम को पंथ॥"**

---

१. "श्री भट सुभट प्रकट्यौ अघट रस रसिकन मन मोद घन"

श्री परशुराम जी के कथनानुसार हितोपासना का मार्ग श्री निंबार्क संप्रदाय का उजागर पंथ था। श्री हरिवंश जी हर समय हित तत्त्व से नित्य नूतन रस में [जिसे श्री निंबार्क जी ने प्रवाहित किया था] निमग्न रहते थे—

**"नयौ नेह, नवरंग, नयौ रस, नवल स्याम, वृषभानु किशोरी**
**नव पीतांबर, नवल चूनरी, नई नई बूँदन भीजत गोरी।"**

[हित चतु० ५४]

उनकी दृष्टि में "प्रभु के बामांग में सदा विराजमान वृषभानुजा का "कमलेक्षण हरि" के साथ अंगांगी भाव में भेदाभेद सम्बन्ध था, वे दोनों प्रकट में दो होकर अद्वय हित रस में निमग्न होकर नये रूप में एक से दीखते थे। दो के संयोग से ही हित रस का प्राकट्य होता है, पर हित की निष्पत्ति होने पर अद्वय हो जाते हैं।

**"इक हित द्वै बिनु होत नहिं, दोऊ मिलि इक होंहि"।**

हृदय के कमल कोश में ही हित तत्त्व प्रकटता है, श्री निंबार्क जी के इस सिद्धांत को भी हित जी ने स्पष्ट कहा है—

**"तब प्रकटैं हित हीय तैं एक प्रान तन दोइ,**
**श्रीमद् हित हृद तैं प्रकट प्यारी कंज स्वरूप।**
**प्रकट भये आस्वाद हित षटपद लाल अनूप।"**

हृदय के कमल कोश स्वरूप श्री राधा के मकरंद को पान करने वाले भ्रमर श्री कृष्ण हैं, इस भाव प्रवणता में कैसा अनूठा सामरस्य दिखलाया गया है! यही हरिवंश जी का श्री निंबार्क जी की हितोपासना में गुरु मुख से प्राप्त "निज मंत्र" है। श्री हरिवंश जी स्वयं भी युगल हित रस को पान करने वाले भ्रमर अपने को मानते हैं—

**"उभय संगम सिंधु सुरत पूषण बंधु,**
**द्रवत मकरंद हरिवंश अलि पावै।"**

[हि० च० पद ८१]

श्री निंबार्काचार्य के सिद्धांत में सांसारिक रति को ही यदि भगवद् रति कर दिया जावे तो निश्चय ही जागतिक दुरूह कामनाओं को सरलता से जीता जा सकता है, यही आत्मोद्धार का सहज सिद्धांत है। पाशविक वासनाओं के संकट से जो अपने को सर्वतोभावेन सुरक्षित कर सके वही गोपिका का भाव है। निरुक्त में गोपिका का ऐसा ही अर्थ किया गया है—

**"आत्मानं गोपयेत या च सर्वदा पशु संकटे**
**सर्व वर्णोद्भवा रम्या गोपिका सा प्रकीर्त्तिता।"**

"रसो वै सः रस ह्येवायं लब्ध्वानंदी भवति" वह रस के सागर हैं। उस रस के सागर हैं। उस रस की एक बिंदु को प्राप्त कर जीव आनंदित होता है। इस स्थिति में शत-शत वासनायें जीती जा सकती हैं। आंतरिक दुर्जय वासनाओं की गति यदि हृदय के गोपनीय निकुंज में लहराते रस सागर में जाकर लीन हो जाती है तो फिर हित ही हित है—

**"अतिशय प्रीति हुती अंतरगति हित हरि वंश चली मुकुलित मन।**
**निविड निकुंज मिले रस सागर जीते संत रतिराज सुरत रन॥**

(हित च० ४४)

हरिवंश जी के इस रहस्यमय पद में वही धारा प्रवाहित है जिसे कबीर ने सद्‌गुरु राधा रूप में प्राप्त किया था। भगवान् श्री निंबार्काचार्य ने ही सर्वप्रथम अंतःकरण धारा को हित मयी राधा का रूप दिया था।

श्री निंबार्काचार्य जी द्वारा किये गये राधा के सोत्कंठ स्मरण के बाद श्री राधा के चिंतन की धारा निरंतर उपासकों और रसिक साहित्यिकों के मध्य में प्रवाहित हो रही है। पद्मपुराण, ब्रह्म वैवर्त्त पुराण, देवी भागवत आदि में भी राधा के दर्शन होतें हैं। ई० पू० तीसरी सदी के नाटककार भास ने श्री निंबार्क जी के बाद बालचरित आदि नाटकों में ब्रज की लीला का चित्रण किया है। मौर्य कालीन विष्णुगुप्त चाणक्य ने भी पंचतंत्र में "राधा नाम से गोपकुल प्रसूतां" आदि कहकर राधा का स्मरण किया है। ई० की पहिली शताब्दी के वेणी संहार नाटक के मंगलाचरण में, ग्यारहवीं सदी के क्षेमेन्द्र के साहित्य में, नवीं सदी के आनंद वर्धन के ध्वन्यालोक ग्रंथ में तथा हाल कवि के प्राकृत ग्रंथ गाथा सतसई (गाथा सप्तशती) तथा रसिक कवि जयदेव की ललित पदावली एवं चंडीदास और विद्यापति की गीतिकाओं में श्री राधा की दिव्य मधुर मूर्त्ति के दर्शन होते हैं। तंत्र साहित्य में राधा के लीला चित्रण की कमी नहीं है। परंतु जैसा विशुद्ध देवी का सम्मान्य रूप श्री निंबार्काचार्य जी ने प्रस्तुत किया है, वैसा अन्यत्र कहीं देखने को नहीं मिलता। सामान्यतः तो साहित्यिकों ने श्री राधा को नायिका भेद के चित्रण में अंकित कर दिया जिससे साधारण जन समाज भड़क उठता है। हितोपासना में श्री राधा का जो दिव्य रूप है, उसे श्री निंबार्क के बाद श्री भट्ट जी, श्री हरिव्यास देव जी, श्री हरिवंश जी, स्वामी हरिदास जी आदि संत ही व्यक्त कर सकें हैं। इन सिद्धों की रहस्यमय हित साधना में श्रीराधा ही आचार्य हैं। उनकी आह्लाद मयी लीला का आस्वाद हितचिंतक ही कर सकता है। श्री राधा के नखचंद्रिका की ज्योति का दिव्य प्रकाश अंतःकरण में अनन्य साधक को ही हो सकता है।

## सहज हितोपासना और सहजिया मत

जैसा कि पिछले प्रसंगों में जाना जा सका है कि वैदिक कर्मकांड के अति विधान, यौगिक हठ योग तथा अन्यान्य क्लिष्ट साधनाओं से श्री निंबार्क जी द्वारा प्रचलित प्रेममय हितोपासना ही सहज है। भागवत धर्म में नवधा भक्ति की साधना का विधान किया गया है, परन्तु सर्वाधिक श्रेष्ठ हितोपासना को अंतः साधना के रूप में श्री निंबार्क जी ने प्रस्तुत किया। इनकी रस सहज उपासना का बड़ा व्यापक प्रभाव पड़ा। बौद्धों का सम्प्रदाय भी इस मत में सरलता के साथ घुल मिल गया। बौद्धों के समय किसी भी प्रकार की विधि या अनुष्ठान का कोई महत्व नहीं था। बौद्धों का आत्मशोधक संप्रदाय था, अतः उन्हें समान आत्मसाधक ही प्रभावित कर सकता था। बौद्धों के संस्कार तो भारतीय ही थे, उन्हें वैदिक उपासना के प्रति पूर्ण आस्था थी। बुद्ध के अनीश्वरवादी मत से उन्हें पूर्ण रूप से तुष्टि नहीं थी। वैदिक यज्ञादि कर्मकांड के विकृत रूप और अति आचार से भी वे ऊब चुके थे। इसलिये भागवत धर्म की प्रेमा भक्ति की अंतःसाधना ने उन्हें अति प्रभावित किया। बौद्धों में भी भक्ति का प्रचार बढ़ा। श्रीमद्‌भागवत आदि वैष्णव पुराणों के आदर्श पर नैपाल में बौद्धों ने शून्य पुराण की रचना की जिसमें "ॐ शून्य ब्रह्मणे नमः" के जप साधन को विशेषता दी गई। बुद्ध को महाप्रभु और स्वयंभू कहा गया। वेद माता से ही सृष्टि कही गई।

श्री निंबार्क के सिद्धांतानुसार बौद्धों ने प्रज्ञा और उपाय इन दोनों के संयोग से होने वाली उपासना से सहज सिद्धि मानी।[1] सांसारिक सुख को एकदम त्याग करना अति कठिन है, इसलिए सांसारिक सभी पदार्थों को ब्रह्ममय मानते हुए उसी में भक्ति का योग कर देना प्रेम मार्ग की साधना है। यही कल्याणमय हित साधना है। श्री निंबार्क के इस सिद्धांत को भी महायानी बौद्ध मत में स्वीकार किया गया।[2] ई० की चौथी सदी में जो

---

१. प्रज्ञा रहितोपायो वंधः उपाय रहिता वंधः। तादातम्यं चानयोः सद्‌गुरूपदेशतः प्रदीप लोकयोरिव सहजसिद्धिमेवाभिगम्यते।"

[अद्वय वज्र संग्रह गा० ओ सि० वड़ौदा]

**"प्राज्ञोपाय विनिश्चय सिद्धिः"**

[अनंग वज्र ओ० इ० वड़ौदा]

२. "लौकिक सुखों के दमन करने से महासुख नहीं होता, लौकिक सुखों को दमन कर जो साधना की जाती है, वह कठिन और असहज है। इसलिए जीवन चक्र में ही रस की अनुभूति करना समरसता है। समरसता में प्रज्ञा और क्रिया

बौद्धों में मंत्रयान संप्रदाय चला वह जीवात्मा और परमात्मा के अंशांशी भाव के सहज मिलन को ही साधना कहता था। ई० की पहिली सदी में कनिष्क ने महायानी सहज संप्रदाय को खूब प्रचलित किया। जालंधर में बौद्धों की एक विशाल गोष्ठी कनिष्क ने की थी और उसमें भक्तिमय बौद्धमत का संगठन किया था। महाराष्ट्र के लोग देवता बुद्ध को विठोवा या विठ्ठल कहकर पूजने लगे जो कि कालांतर में वैष्णवों के देवता हो गये। बंगाल में बौद्ध को बड़म कहकर पूजा जाने लगा। बौद्धम् के ही रूपांतर बौड़म वैष्णवों के प्रभाव से सहज ही जगन्नाथ होकर वैष्णवों के प्रधान उपास्य देवता हो गये। वैष्णवीय सहज साधना को स्वीकार कर बौद्धों का जो दल भक्ति-साधना में संलग्न हो गया उसे सहजिया मत कहा गया। यह मत बंगाल और उत्कल में अधिक जोरों से पनपा। चीनी यात्री चुवांग के अनुसार (ई० ७ वीं सदी) बंगाल में जो दस हजार बौद्धों के संघाराम थे, प्रायः वे सब सहजिया मत के प्रचारक हो गये। इसमें श्री कृष्णाचार्य और लुई प्रधान आचार्य थे। नारद भक्ति सूत्र के अनुसार प्रेम मार्गीय हितोपासकों की जो अनिवर्चनीय उन्मत्तावस्था होती है,[1] वहीं अवस्था प्रेमा भक्ति के हित रस का आस्वादन कर बौद्धों की भी सहज रूप से हो गई। वे भी इस अमृत रस से उन्मत्त हो गये। प्रायः बौद्धम् का अपभ्रंश बौड़म शब्द उन्मत्तों के लिये प्रयोग किया जाने लगा। बंगाल और उत्कल में सहजिया संप्रदाय के लिए प्रयुक्त "बाउल" शब्द भी इसी का द्योतक है। जिस व्यक्ति को वातज रोग होता है, उसे संस्कृत भाषा में "वातूल" कहते हैं।[2] वातज रोगी की भी उन्मत्तावस्था ही होती है, इसलिय "वातूल" शब्द

---

दोनों एकाकार हो जाती हैं। इस सामरस्य से मन की प्रवृत्ति और निवृत्ति नष्ट हो जाती है। [महासुख प्रकाश-अद्वयवज्र संग्रह]

"भाव और अभाव दोनों की एकता में हित लीला चलती है उसे युगनद्ध कहते हैं।" [युगनद्ध प्रकाश—अद्वयवज्र संग्रह]

भोगों की ओर मन का उन्मुख होना स्वाभाविक है और सहजभाव है। इसलिए श्री कृष्ण की शृंगारिक लीलाओं का चिंतन ही मोक्ष साधन है।" "इसी को सहज प्रेमावस्था कह सकते हैं।"

[प्रेम पंचक—अद्वयज्र संग्रह]

१. **"यज्ज्ञात्वां मत्ता भवति स्तब्धो भवति आत्मारामो भवति"—६**

[जिस हित तत्व को जानकर साधक उन्मत्त, स्तब्ध और आत्माराम हो जाता है]

२. पाणिनीय व्याकरण के वार्त्तिककार श्री कात्यायन जी ने एक वार्त्तिक "वातदंतवललाटानामभुंडः च" के अनुसार "वातूल" शब्द की सिद्धि की है।

उन्मत्त या पागल के अर्थ में व्यवहृत होने लगा। वाउल अपभ्रंश शब्द है। बंगला और उड़िया भाषा में "वाउल" का अर्थ पागल ही होता है। भोजपुरी भाषा का "बाऊला" अवधी भाषा का "बौरा" तथा व्रज भाषा का "बावला" इसी का रूपान्तर है। महाप्रभु श्री चैतन्य इसी मत से संलग्न थे उनकी विभोरावस्था और उन्मत्तता प्रसिद्ध है। उच्चकोटि के सिद्धों और दार्शनिकों की विक्षिप्तता प्रसिद्ध है। प्रेमी भक्त की उन्मतत्ता में वाह्य विस्मृति मात्र ही होती है। भावप्रवणता ही उसके बावलेपन का कारण है। हितरस की निमग्नता की विभोरावस्था को ही हम उन्मत्तता, स्तब्धता और आत्मरमण कह सकते हैं।

भागवत धर्म की उपासना के प्रभाव से भारत के सभी मतों में तंत्र साहित्य का संकलन हुआ। भारत में तांत्रिकों के पाँच प्रधान केन्द्र सदा से रहे है—जालंधर, पूना, श्री पर्वत, ओढियान और कामाक्षा। सहजिया मत पर भी तंत्र का प्रबल प्रभाव था। सुदर्शन के तंत्रमय रूप का पूजन सहजिया मत की विशेषता थी। शक्तितंत्र के जो पंच मकार थे उनसे प्राय: कोई भी तंत्र अछूता नहीं रहा। वैष्णव तंत्रों ने तो पंचमकार की उपासना को स्वीकार नहीं किया परंतु ई० की १० वीं सदी में कान्हू भट्ट ने सहजिया मत में वाम मार्गीय उपासना को प्रविष्ट किया। ११वीं सदी के उमापति ने उसमें अधिक वृद्धि की। श्री जयदेव के गीत गोविंद तथा चंडीदास विद्यापति की पदावली में इस उपासना का प्रभाव स्पष्ट लक्षित होता है। आठवीं और नवीं सदी में कन्नौज से जो व्राह्मण यज्ञ के लिए बङ्गाल में जाकर बसे, वे कान्यकुब्ज देश की प्रचलित तंत्र साधना भी साथ ले गये उनका वहाँ प्रभाव पड़ना स्वाभाविक था। १२ वीं सदी में वल्लाल सेन ने उन व्राह्मणों की जनगणना कराई थी। उसके विवरण से ज्ञात होता है कि उनके केवल ८०० घर थे। वे भी बौद्धों के पुरोहित थे। वैदिक मन्त्रों से बौद्धों के धार्मिक कृत्य कराते थे। वैष्णवों की प्रेमा भक्ति का भी उन पर पूर्ण प्रभाव था। तान्त्रिक उपासना होने के कारण उनकी दिनचर्या विलासिता और ऐश्वर्य से पूर्ण थी। इस प्रकार बौद्ध, वैष्णव तथा तंत्र इन तीनों का मिश्रित रूप ही सहजिया मत था। १४वीं सदी में बङ्गाल और उत्कल में होने वाले पाँच दासों ने इस मत में एक नई चेतना दी।[१] इन्होंने श्री निंबार्क की प्रचलित उपासना प्रणाली को उपस्थित किया। प्रणव गीता के निर्माता बलरामदास ने अनिरूद्ध स्वरूप श्री निंबार्क का अवतार अपने को कहा है। श्री कृष्ण के मुख से ही इस अवतार के प्रसंग को उपस्थित किया है—

---

१. अच्युतदास, वलरामदास, जगन्नाथदास, यशोवंतदास और अनन्तदास।

**श्री हरि बोइले शुण अर्जुन । पदुम अटइ मोर नन्दन ।।**
**ताहार सुशिष्य अनिरुद्ध हेब । से पुणि कालरे छय हइब ।।**
**मुये बेदब ब्रह्म अवतार । कलि युगे दारु ब्रह्म शरीर ।।**
**प्रताप रुद्र नामे हेब राये । कहहि तोते से काल संशये ।।**
**सोमनाथ नामे पुत्र ताहार । अनिरुद्ध जात ताहार घर ।।**
**ताहार नाम बलराम दास । गुपत गीता अध्याये प्रकाश ।।**[1]

**अर्थात**—"श्री कृष्ण कहते हैं कि अर्जुन ! ब्रह्म के पुत्र भ्रमणशील (नारद) के सुशिष्य अनिरुद्ध ने (गीता के निष्काम कर्म युक्त भागवत धर्म का प्रचार किया) कालांतर में नष्ट प्राय भागवत धर्म की स्थापना की तथा कलियुग में दारुब्रह्म शरीर (जगन्नाथ) की वैदिकी उपासना को प्रचलित किया । उन्हीं अनिरुद्ध ने सोमनाथ के घर में बलराम दास के रूप में अवतार लेकर गुप्त गीता के अध्यायों में भागवत धर्म का प्रकाश किया ।"

इस वर्णन से ज्ञात होता है कि श्री निंबार्काचार्य जी ने ही प्रधान रूप से भगवान बुद्ध को ईश्वर का अवतार कहा । जगन्नाथ जी की प्रतिमा बुद्ध की दंत पेटिका ही है ।[2] भागवत धर्म ने बुद्ध को ईश्वर कहा तो बौद्धों ने भी भागवतों का समादर किया ।[3] जगन्नाथ मन्दिर की शिखर पर सुदर्शन चक्र की स्थापना इस बात का ज्वलंत प्रमाण है कि श्री निंबार्क ने ही बौद्ध बिहार को वैष्णव मन्दिर बनाया था ।

श्री निंबार्क ने मन्त्र रहस्य षोडशी में ॐ और क्लीं की एकता दिखला कर उसे हंस रूप सिद्ध किया है । बलरामदास भी प्रणव गीता में ऐसा ही कहते हैं—

**"अकार उकार मकार तीनि, हंकार सकार लकार धेनि ।**
**कामबीज ओमिति कि लेखिणि ।**

---

१. अच्युतदास, वलरामदास, जगन्नाथदास यशोवंतदास और अनन्तदास।

२. प्रणव गीता प्रथम अध्याय ४५ से ५१ तक ।

[इन दासों ने शून्य संहिता, तुलाभिना, प्रणव गीता (गुप्त गीता) सारस्वत गीता, विराट गीता आदि अनेक ग्रंथों की रचना की]

३. इन दास कवियों ने जगन्नाथ की दारु ब्रह्म की स्तुति में कहा कि "मैं बुद्धावतार हूँ कलि के जीवों के उद्धार के लिए ही मैं अवतरित हुआ हूँ ।"

१० वीं सदी में क्षेमेंद्र कवि ने अवदान कल्पलता में बुद्धावतार की स्तुति की है। जयदेव ने गीत गोविंद में दशावतारों में बुद्ध का अवतार कहा है। यह भागवत धर्म का ही प्रभाव है।

**बले बलदास कहई तत्त्व । तत्त्व बोधदास अति गुपत ।"[१]**

इसी के अग्रिम प्रसंग में सुदर्शन के षट् चक्र के मध्य में ही संपूर्ण सृष्टि का रहस्य बतलाया है।

"जगन्नाथ ने हृदस्थ वृन्दावन की ओर भी इशारा किया है—

**"कृष्णेर क्रीड़ा रस एहि, गुपत वृन्दावन कहि ।**
**मथुरापुर महाशून्य, गोपनगर सेइ जान ।"[२]**

इन लोगों ने जीवात्मा का प्रतीक राधा को तथा परमात्मा श्री कृष्ण को ही कहा है। उन दोनों के गोलोक में भावमय मिलन से प्रकटरस को शून्य स्थिति कहा है—

**"जीव आत्मा राधे बलि, परम मुरारी ।"[३]**
**"एकांग ब्रह्मरूप होय, राधिका संगे भावग्राही ।**
**गोलोक नित्य एहा कहि, शून्य देउलए बोलाई ।।[४]**

वास्तव में इन भक्तों ने बौद्धमत के शून्यवाद को वैष्णवी रूप दिया। ये लोग शून्य स्थिति को महाबोध स्थिति कहते हैं। इनके मत में शून्य स्थिति महाभाव है और महाभाव से संपन्न संत महाप्रभु हैं। इन्होंने इसीलिए बुद्ध को महाप्रभु कहा है।[५] ये लोग प्रत्यक्ष में राधा कृष्ण के उपासक थे, पर शरीरस्थ गुप्त वृन्दावन के उपासक थे। इनकी उपासना वाह्य नहीं थीं, आभ्यंतर थी।[६] इनकी दृष्टि में नित्य वृन्दावन में आदि माता श्री राधा और आदि देवता निरंजन श्री कृष्ण का सदा साहचर्य रहता है। उसी का आभास शरीरस्थ वृन्दावन में भी जीवात्मा परमात्मा के साहचर्य में करना चाहिए।

**महा नित्यस्थान रेटी एव्रत प्रमाण,**
**आदि माता देवी से देवता महाशून्य ।**
**सखि तहिं आदिमाता सखा निरंजन,**
**तत्त्व करि कहि देवा हेतुकरि चित्त ।[७]**

इस प्रकार श्री निंवार्काचार्य जी के सिद्धांत को ही इन लोगों ने गान

---

१. प्रणव गीता १२ अध्याय ११। २. तुलाभिना अध्याय ९।
३. शून्य संहिता अध्याय २ अच्युतदास। ४. तुलाभिना अध्याय ९।
५. श्री चैतन्य, श्री हरिवंश और वल्लभाचार्य जी को इसी प्रसंग मे महाप्रभु कहा जाता है। ये तीनों इस मत से प्रभावित थे।
६. मार्डर्न वुद्धिज्म एण्ड इट्स फोलोअर्स एण्ड उड़ीसा पृष्ठ १० एस० एन० वसु०
७. वलरामदास कृत गणेश विभूति टीका २ अध्याय।

किया। श्री निंबार्काचार्य जी ने दासवत भाव को उपासना में महत्व दिया था, उसे इन दास भक्तों ने ज्यों का त्यों स्वीकार किया और दास का अर्थ आत्मतत्त्व ज्ञानी या ब्रह्मदर्शी किया—

**"नाम तत्त्व चिन्हि आत्मतत्त्व ज्ञानी नाम ब्रह्म यार आश।**
**ब्रह्मदर्शी महि अवश्य अटइ प्रभुकर सेई दाश।।**[१]

इस प्रकार सहज संप्रदाय का सारा सिद्धांत वैष्णवीय था। इस सम्प्रदाय का व्यापक प्रभाव पड़ा। नाथ संतों की जो परम्परा चली वह भी इससे पूर्ण प्रभावित थी। नाथ भी हृदय के अनाहत चक्र में ही उपासना को महत्व देते थे। लगभग १४ वीं शताब्दी में ही अति प्रचलित सिक्ख सम्प्रदाय में भी यह कहा गया कि—"कलियुग में योग का अनुष्ठान कठिन है। हम सहज मार्ग के विश्वासी हैं। इससे बिना कष्ट उठाये ही मन पवित्र हो जाता है। गुरुओं की आज्ञा है कि सहज योग का अभ्यास करो।"[२]

हृदय के अनाहत चक्र में जो भूमा सुख की जीव को अनुभूति होती है, उसे स्वाभाविक सहज सुख कहा गया है।[३]

दक्षिण में आलवार संतों की जो लंबी परंपरा थी वह भी इस सहज हितोपासना में रत थी। आलवार संत भी गुप्त वृन्दावन की लीला का गान करते थे तथा स्वयं गोपी भाव से उसमें संलग्न रहते थे।[४]

### साधन तत्व

हितोपासना में वैधी भक्ति को गौण माना गया है। श्री निंबार्काचार्य जी ने क्रिया को गौण रूप दिया था। क्रिया को वे सहायक साधन मानते थे परन्तु क्रिया के पालन को आवश्यक कहते थे। साधनावस्था में तो क्रिया की महत्ता स्वीकार करते ही थे। सिद्धावस्था में भी क्रिया को आवश्यक मानते थे। इसके दो कारण थे, एक तो महान व्यक्तियों के आचरण का सामान्य

---

१. शून्य पुराण १६ अध्याय—अच्युतानंददास

२. दि सिक्ख रिलीजन २।१६ एम० ए० मैकलिफ
आक्सफोर्ड—१९०९

३. **ईश्वर अंश जीव अविनाशी, चेतन अमल सहज सुख राशी।**
तुलसीदास रा० च० मा० ७।११६।२।

४. श्री चैतन्य महाप्रभु ने सहजिया सम्प्रदाय में जो कुछ भी बौद्ध संस्कार शेष थे, उन्हें बिलकुल वैष्णवीकरण कर दिया। बौद्धों के प्रसिद्ध धाम जगन्नाथपुरी को ही महाप्रभु जी ने अपनी लीला भूमि बनाया। जगन्नाथ पुरी में सभी संतों का प्रभाव पड़ा है। स्वामी रामानुजाचार्य, स्वामी शंकराचार्य श्री वल्लभाचार्य ने भी पुरी आदि बौद्धाक्रांत तीर्थों की रक्षा की है।

लोगों पर बहुत बड़ा प्रभाव पड़ता है ।[१] दूसरे क्रिया में शिथिलता आने पर पतन होने की आशंका रहती है ।[२]

आचार्य चरण ने अंत: शौच के विधायक पाँच संस्कारों को बड़ा महत्व दिया था । आगे चलकर उन पाँचों को बड़े विस्तृत रुप से नारद पांचरात्र आदि संहिताओं में तथा वैष्णव पुराणों आचार ग्रंथों में संकलन किया गया ।

विभिन्न संप्रदायों और विभिन्न मतों से इन संस्कारों में भी विभिन्नता आ गई । नारद पांचरात्र के अनुसार आचार्य जी के प्रतिपादित ताप, पुण्ड्र, नाम, मंत्र और याग ये पाँच संस्कार हैं । इन संस्कारों को एकान्तिक हितोपासना का मुख्य हेतु कहा गया है ।[३] अत: वृत्तियों को संयमित करने के लिए इनकी परमावश्यकता है ।

ताप अर्थात् तप संस्कार का सर्वोपरि महत्व है । तप के अनेक प्रकार जैन, बौद्ध आदि ने भी प्रस्तुत किये हैं । भारतीय संस्कृति के मूल में ही तप है । सृष्टि के आदि काल से ही तप की विशेषता रही है । महर्षियों ने तप से ही तत्वों का अन्वेषण किया था ।

श्री निंबार्काचार्य जी ने व्रत (उपवास) को ही प्रधान तप कहा है । दीर्घकालीन व्रत का कोई विधान नहीं स्वीकार किया, महीने में केवल दो व्रतों की विशेषता बतलाई है । एकादशी व्रत, शरीर की ग्यारह इंद्रियों[४] को संयमित किया जावे इस तथ्य की पुष्टि करता है । आचार्य जी ने द्वादशी से स्पृष्ट एकादशी व्रत का विशेष महत्व कहा है, जिसका तात्पर्य होता है, कि ग्यारह इंद्रियों के साथ अहंकार का भी संयमन करना चाहिये । क्योंकि तैजस अहंकार दस इंद्रियों की वृत्ति का कारण है । अहंकार का स्थान हृदय में माना गया है ।[३] हृदय में प्रभु का चिंतन करने के लिए अति आवश्यक है

---

१. **यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः ।**
**सॅयत् प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्त्तते ।।** गीता ३।२१।

२. **भवतु निश्चयदार्ढ्यादूर्ध्वं शास्त्ररक्षणम्, अन्यथा पातित्याशंकन्या ।**
नारद भ० सू० १२-१३

३. **तापं पुंड्रं तथा नाम मंत्रोयागश्च पंचमः ।**
**अमी हि पंच संस्काराः परमैकांत हेतवः ।।**

—नारद पाँचरात्र

४. पाँच कर्मेन्द्रिय (हाथ, पैर, पायु, उपस्थ, वाणी) पाँच ज्ञानेन्द्रिय (आँख, नाक, कान, जिह्वा और त्वक्) तथा मन ये ग्यारह इंद्रियाँ वेदांती लोग मानते हैं ।

५. इसका विस्तृत विवेचन उत्तरार्ध के पृष्ठ २६८-६९-७० पर देखें ।

कि हृदय को शुद्ध किया जावे। व्रत ही उस स्थल को शुद्ध करने का सुलभ साधन है। जैसे अग्नि में तपाकर स्वर्ण शुद्ध किया जाता है वैसे ही व्रत साधन से शरीरस्थ वैश्वानर (जठराग्नि) का उद्दीपन होता है और अंतःकरण की शुद्धि होती है। इंद्रियों की वृत्तियाँ संयमित हो जाती हैं। एकादशी व्रत में सर्व प्रधान इंद्रिय मन को वशंगत के लिए मौन का विशेष विधान किया गया है। व्रत के तीन रूप हैं, कायिक, वाचिक और मानस।

एक बार सूक्ष्म आहार अथवा बिना किसी प्रकार की कष्टानुभूति किये ही दिन भर आहार न करना कायिक [शरीर को शुद्ध करने वाला] व्रत है। शास्त्रीय तत्वों का मनन, भगवान का नाम कीर्त्तन, सत्य भाषण तथा वाणी से किसी की निन्दा आदि न करना वाचिक [वाणी को शुद्ध करने वाला] व्रत है। मन से किसी का भी अहित न करना, सबके हित का ही चिंतन करना किसी की वस्तु को चुराने की इच्छा तथा किसी के वैभव और सुख को देखकर ईर्ष्या न करना, मन को किसी भी प्रकार से दूषित न होने देना और मन को शांत रखना यह मानस [मन को शुद्ध करने वाला] व्रत है।[1] इस प्रकार व्रत का मुख्य तात्पर्य इन्द्रियों की दुर्जय वृत्तियों को संयमित करना ही है। जिस प्रकार भगवान में स्वच्छता स्वाभाविक गुण है। उसी प्रकार जीवात्मा भी उस गुण से संपन्न हो जावे यही एकादशी व्रत का प्रयोजन है। केवल निराहार रहकर ही वृत्तियों का शमन नहीं किया जा सकता। इसके लिए तो कायिक, वाचिक, मानस तीनों के ग्यारह नियमों का दृढ़तापूर्व पालन करना अति आवश्यक है। सभी परमात्मा के गुणों के निकट तक जीवात्मा पहुँच सकता है और समता प्राप्त कर सकता है।[2] यही

---

१. **एक मुक्तं तथानक्तं उपवासमयाचितं,**
**इत्येवं कायिकं पुंसां व्रतमुक्तं नरेश्वर।**
**वेदास्याध्ययनं विष्णोः कीर्त्तनं सत्यभाषणं,**
**अपैशुन्यमिदं राजन वाचिकं व्रतमुच्यते।**
**अहिंसा सत्यमस्तेयं ब्रह्मचर्यमकल्कता,**
**एतानि मानसान्याहुव्रतानि हरि तुष्टये।** पद्म पुराण]

गीता अध्याय १७ के १४-१५-१६ श्लोकों में भी इसी प्रकार के तपों का उल्लेख किया गया है। गीता में जिन्हें तप कहा है, पद्म पुराण में उन्हें ही व्रत कहा गया है, इसलिए तप का अर्थ व्रत होगा।

२. **उपावृतस्तु पापेभ्यो योहि वासो गुणैर्हरेः।**
**उपावासः स विज्ञेयो नोपवासस्तु लंघनम्॥**

[पापों का दमन करते हुए, परमात्मा के समान गुणों की प्राप्ति की चेष्टा करना ही उपवास है, केवल भूखे रहना उपवास नहीं है]

उपवास का शाब्दिक अर्थ भी है।[१] इस प्रकार एकादशी व्रत नित्य किया जाना चाहिये। वर्ष की चौबीस एकादशी तो शरीरस्थ २४ तत्त्वों की शुद्धि के स्मृति दिवस हैं। यदि साल में २४ दिन भी दृढ़ता और निष्ठापूर्वक व्रत का पालन किया जावे तो जीवन को सच्चरित्रता में सरलता से ढाला जा सकता है। यदि कोई साल के २४ दिन भी इन आदर्श नियमों का पालन नहीं कर सकता तो उसकी और पशुओं की वृत्ति में कोई बहुत बड़ा अंतर नहीं है। इन चारित्रिक गुणों की श्रेष्ठता तो सभी को स्वीकार करनी पड़ेगी। निराहार व्रत से इन्द्रियों की वृत्तियाँ स्वतः शांत होने लगती है ऐसा वैज्ञानिक तथ्य है। तप आत्मशुद्धि का विशिष्ट साधन है, ऐसा मानना चाहिए।

इंद्रियों की वृत्तियाँ तो उपवास करने से शांत हो जाती हैं, परंतु सांसारिक विषयों की ओर से एकदम आसक्ति छोड़ने लगती हैं, ऐसा नहीं समझना चाहिये। सांसारिक राग (रस) तो तभी छूट सकता है, जब कि वह परं रस का अनुगामी हो जावे। परं हित रस को हृदय में साक्षात् करने के बाद ही सांसारिक रस से छुटकारा मिलता है। या यों कहा जा सकता है कि सांसारिक अल्प सुख बहुल भूमा सुख के जानने के बाद तुच्छ प्रतीत होने लगता है।[२] इसलिए परं सुख को जानने के लिए तप (व्रत) के अतिरिक्त अन्य भी संस्कारों की आवश्यकता होती है।

गोपी चंदन का तिलक मस्तक आदि बारह शरीर के अवयवों में लगाया जावे उसे पुंड्र संस्कार कहते हैं। शरीर में सात चक्रों की कल्पना की गई है उनमें पाँच चक्रों [नाभि के मणिधार चक्र से लेकर शिर के सहस्रार चक्र तक] में तथा इड़ा, पिंगला, यशस्विनी, पयस्विनी, पूषा शंखिनी, सरस्वती और वरुणा नामक इन चक्रों से संसक्त नाड़ियों में ऊर्ध्वगामी खड़ी दो रेखाओं को लगाने का विधान है।[३] इन स्थलों पर चंदन के लेप करने से

---

१. उप (समीपे) वासः (स्थितिः) इत्युपासः [समानस्थिति प्राप्त करना उपवास है]

२. **विषया विनिवर्त्तंते निराहारस्यदेहिनः।**
**रसवर्जं रसोप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्त्तते॥** गीता २।५९॥

३. श्री निंवार्काचार्य के समय चंदनों के आकार प्रकार में कोई भेद नहीं था। ये भेद जो अव दृष्टिगोचर होते हैं वे सव कालांतर की कल्पना है। अपने-अपने मतों की विभिन्नता के परिचायक चिह्न मात्र हैं। जैसे कि गौड़ीय वैष्णवों में तिलक के नीचे नाक पर योनि के आकार के चिन्ह को भी लगाया जाता है, जिसे वे भाल कहते हैं। यह गौड़ देश (वंगाल) में प्रचलित शाक्त संप्रदाय का

शीतलता, तेज, कांति, स्फूर्ति का संचार होता है तथा भगवच्चिंतन में संलग्नता होती है। मिट्टी की शक्ति प्राकृतिक दृष्टि से सम्मान्य है। गोपी चंदन की मिट्टी विशेष शक्ति संपन्न है। नाड़ियों में प्रवाहित होने वाले रक्त की शुद्धि चंदन के लेप से होती है। इसी प्रकार तुलसी की माला को कंठ में धारण करने का विधान भी वैज्ञानिक है। तुलसी वृक्ष का प्रत्येक अवयव गुणकारी कहा गया है। विजातीय कीटाणुओं का संहनन, कफ का शमन, वायु का संयमन, पित्त का समीकरण आदि तुलसी के विशेष गुण हैं। कंठ, शरीर के अन्य अवयवों में सर्वाधिक संवदेनशील संधि स्थल है। शरीर के होने वाले विषाक्त विकारों की सूचना सर्वप्रथम कंठ में निकलने वाली ग्रंथियों (Gillty) से मिल जातीहै। इसलिये तुलसी की कंठी को धारण करने से देह की सर्वाधिक शुद्ध होती है।[१]

नाम का बड़ा प्रभाव होता है। नाम से व्यक्ति और समुदाय की प्रवृत्ति और संस्कृति का परिज्ञान हो जाता है। साहित्यिक अपनी संतानों का अपनी अभिरूचि के अनुसार श्रेष्ठ नाम रखता है, तो एक ग्रामीण परिवारों में रंगई, बुधई, घूरे, झगड़ू, आदि नाम उनकी संस्कृति और अज्ञानता का परिचय देते है। वैष्णवों ने जो नाम संस्कार को भी अपनी उपासना का एक अंग माना है उसका कारण है, उनकी एक निष्ठता और भगवन्नाम के प्रति गाढ़ानुराग। वैष्णव चाहते हैं कि उनकी वाणी से, शरीर से या मन से अपने उपास्य के अतिरिक्त न कुछ कहा जावे, न किया जावे, न सोचा जावे। सांसारिक जीवन उपास्यमय हो जावे यही एकमात्र ध्येय होता है। श्रीमद्भागवत की अजामील की कथा में इसका महत्त्व दिखलाया गया है। वैष्णव का नाम उपास्यमय हो, उसका कर्म उपास्यमय हो तभी वह उपास्य. के स्वरूप को प्राप्त कर सकते हैं। अनुकरण से अनुरूपता स्वाभाविक रूप से आ ही जाती है, जैसे कि आज अधिकांश व्यक्ति पाश्चात्यों का प्रत्येक कार्य में अनुकरण (नकल) करने की चेष्टा करते हैं जिससे वे भाषा, भूषा (साज-सज्जा) आहार, व्यवहार में वैसे ही प्रतीत होते हैं। उसी प्रकार वैष्णव भी ब्रह्म के स्वरूप और गुण का अनुकरण (नकल) कर उनके समान होना चाहते हैं। समानता प्राप्त करना ही श्री निंबार्काचार्य के

---

प्रतीक चिन्ह है। पुराणों में भी आज के प्रचलित सभी तिलक के प्रकारों के स्वरुप का वर्णन मिलता है जो कि विभन्न काल का संकलन है।

१. तुलसी के शताधिक गुणों का संग्रह और उनका वैज्ञानिक महत्व तथा वैष्णव धर्म में उसकी श्रेष्ठता आदि का विवेचन पृथक् ही "तुलसी संचयन" नामक संकलन में किया गया है जो कि अभी अप्रकाशित है।

मत में भगवद्भाव की प्राप्ति नामक मुक्ति का स्वरूप है। जीव की जैसी प्रवृत्ति होती है, वैसी ही उसकी प्रकृति बनती है अथवा यों समझें कि प्रकृति के अनुसार ही प्रवृत्ति होती है। प्रकृति और प्रवृत्ति का घनिष्ठ सम्बन्ध है। कथनी और करनी का एक होना ही कार्य सिद्धि की पहिली सीढ़ी है। न केवल कहने से कुछ हो सकता है न केवल करने से ही। जीवात्मा का ज्ञान ही कर्म की ओर प्रवृत्त करता है। ज्ञान, कर्म का संयोग ही भक्तियोग का आधार स्थल है, जिस स्थल से भक्तियोग का उदय होता है। ज्ञान और कर्म के सतत् अभ्यास से नैष्कर्म्य स्थिति होती है। जिस स्थिति में जीवात्मा करते हुए भी नहीं सुनता, जानते हुए भी नहीं जानता। यही परमात्मा के साथ जीवात्मा की साम्यावस्था है। सांसारिक दृष्टि में यह पागलपन है तो साधक की दृष्टि में वह सिद्धावस्था है। सांसारिक बंधनों की अवस्था सहज (स्वाभाविक) है। वस्तुतः यह पागलपन नहीं है। पागलपन में तो अंतःकरण की संपूर्ण वृत्तियाँ अपनी अस्वाभाविक पराकाष्ठा पर पहुँच जाती हैं। जैसे कि क्रोध करना जीव की स्वाभाविक प्रवृत्ति नहीं है, वह तो किन्हीं कारणोंवश जीव के स्वभाव में उत्पन्न होती है। पागलपन में यही प्रवृत्ति अपनी सीमा पार कर जाती है जिससे कि पागल व्यक्ति ऐसे कुकृत्य कर बैठता है जो कि हानिकारक होते हैं। भक्तों की जो सिद्धावस्था है उसमें अंतःकरण की संपूर्ण वृत्तियाँ अपने स्वाभाविक रूप में रहती हैं। उनके क्रोध से किसी की हानि संभव नहीं है।

संस्कारों में पुंड्र [चिन्ह = तिलक और कंठी] तथा नाम ये दो वाह्य संस्कार हैं। तप वाह्य और आभ्यंतर दोनों प्रकारका है। मंत्र और याग आभ्यंतर संस्कार है। मंत्र संस्कार का सम्बन्ध मन से हैं। मंत्र के अविच्छिन्न अभ्यास को जप कहते हैं। जप के तीन प्रकार कहे गए हैं—वाचिक, उपांशु और मानस। वाचिक जप में वाणी के द्वारा मंत्र का उच्चारण होता रहता है। उपांशु जप में शब्द का उच्चारण तो नहीं होता परंतु जीभ ओठ इत्यादि हिलते रहते हैं। मानस जप में मंत्र का अभ्यास मन में ही चलता रहता है। मंत्र के स्वरुप में भगवान का चिंतन करने से विघ्नों का अभाव और जीवात्मा के स्वरूप का ज्ञान हो जाता है।[१] मंत्र के प्रभाव से

---

१. मंत्र के अर्थ और स्वरुप का विवेचन उत्तरार्ध के पृष्ठ २३९ से २५६ तक देखें। "तज्जपस्तदर्थ भावनम्" [मंत्र के जप में उसके अर्थस्वरुप परमेश्वर का चिंतन करना चाहिए] "ततः प्रत्यक् चेतनाधिगमोऽप्यन्तरायाभावश्च"

[जप साधन से विघ्नों का अभाव और अंतरात्मा के स्वरुप का ज्ञान हो जाता है]

पातंजल योगसूत्र १।२८-२९।

मन की शक्ति अपार हो जाती है । मन का समाधान हो जाने से सारी इंद्रियों का समाधान हो जाता है । मन से ही परमात्मा तत्त्व को जाना जा सकता है ।[१] इसलिए मंत्र के द्वारा मन को संयमित किया जाता है । हृदय ही मन है। संपूर्ण वस्तुओं को जानने की शक्ति, आज्ञा देने की शक्ति, सब पदार्थों को विभिन्न रूप से जानने की शक्ति, तत्काल ज्ञान की शक्ति, वेग, स्मरण शक्ति, धारण करने की शक्ति, देखने की शक्ति, धैर्य, बुद्धि, मनन शक्ति, संकलन शक्ति, मनोरथ शक्ति, प्राण शक्ति, कामना शक्ति, स्त्री संसर्ग आदि की अभिलाषा शक्ति, ये सब मन से ही उत्पन्न होती हैं ।[२] मन से ही संपूर्ण सृष्टि होती है ।[३] इसलिए मन को मंत्र के अभ्यास द्वारा वशीभूत कर लेने से मन की संपूर्ण शक्ति प्रबल हो जाती है । तंत्रशास्त्र में जैसे शक्ति को बढ़ाने की इच्छा होती है वैसे ही मन्त्र का विधान किया है । इन शक्तियों को प्राप्त कर लेना ही सिद्धि है। ये सकाम मन्त्रों के अनुष्ठान की विधि है। श्री निंबार्काचार्य जी निष्काम मन्त्रानुष्ठान की आज्ञा देते हैं। निष्काम मन्त्रानुष्ठान से परमात्मा के समान महान शक्ति प्राप्त होती है, सर्व सामर्थ्य हो जाती है। मन स्वच्छतम हो जाता है, मन की अपार शक्ति में सारी इच्छा आदि शक्तियाँ डूबकर विलीन होजाती है। मन्त्र द्वारा उपास्य का ध्यान करने से मन स्थिर हो जाता है ।[४]

याग संस्कार का तात्पर्य भगवत् चर्या अर्थात् इंद्रियों की संपूर्ण भोग वृत्तियों को भगवान में ही समर्पण कर देना है । श्रुति (वेद) में विष्णु को ही यज्ञ कहा गया है।[५] श्री निंबार्काचार्य जी ने इंद्रियों की सूक्ष्म अणु रूप वृत्तियों को संगठित रूप से मन से संयोग कर जीवात्मा में संयुक्त कर देने को मोक्ष के प्रथम की अवस्था कहा है ।[६] सम्पूर्ण वृत्तियों से सङ्गठित उपासक की मनोवृत्ति का ईश्वर में तन्मय हो जाना ही भक्ति योग है । आचार्य चरण ने

---

१. मनसैवेदमाप्तव्यम्—कठोपनिषद् २।१।११। २. ऐतरेयोपनिषद ३।२॥
३. मनसो ह्यवखल्विमानि भूतानि जायन्ते—तैत्त ० भृगु० ४ अनुवाक
४. यथाभिमत ध्यानद्वा—पा० यो० सू १।३९। ५. "विष्णु वै यागः"

**सवै मनः कृष्णपदार विंदयोर्वचांसि वैकुंठ गुणानुवर्णने ॥**
**करौ हरेर्मंदिर मार्जनादिषु श्रुतिं चकाराच्युत् सत्कथोदये ॥**
**मुकुंद लिंगालय दर्शनेदृशौ तद् भृत्यगात्रस्पर्शेऽङ्ग संगमम् ॥**
**घ्राणं च तत्पाव सरोज सौरभे श्रीमत्तुलस्या रसनां तदर्पिते ॥**
**पादौ हरेर्क्षेत्र पदानुसर्पणो शिरो ऋषीकेश पदाभिवंदने ॥**
**कामं च दास्ये नतु कामकास्यया यथोत्तमश्लोक जनाश्रयारतिः॥**
भा० ९।४।१८-१९-२० ॥

६. देखें उत्तरार्ध पृष्ठ १९२

इस आत्म हवन से जीवात्मा को कृत्कार्य माना है और सांसारिक बंधनों से मुक्ति का प्रधान साधन कहा है।[१]

यह तन्मय योग भगवान की प्रतीकोपासना से होता है। भगवान की प्रतिमा (मूर्त्ति) की अर्चना से इंद्रिय वृत्तियों का एकीकरण होने लगता है। इस योग का अभ्यास आभ्यंतर और वाह्य दोनों प्रकार से किया जा सकता है। वाह्य अभ्यास के लिए प्रतिमा पूजन का विधान है। आभ्यंतर अभ्यास में मन को ही प्रतिमा मानकर पूजन किया जाता है। श्री आचार्य जी ने आभ्यंतर उपासना पर अधिक बल दिया है।[२] प्रथम श्रेणी के साधनों के लिए वाह्य अर्चना का ही अभ्यास करना उचित है। आभ्यांतर उपासना तो ऊँची श्रेणी के साधकों से साध्य है।[३] इन संस्कारों से चित्त की प्रशांत वाहिता स्थिति हो जाती है अर्थात् सारी वृत्तियाँ एक रस होकर प्रवाहित होती है।

मन सहित इंद्रियों की पाँच प्रकार की वृत्तियाँ होती हैं—(i) विषयों की ओर झुकाव से ग्रहणवृत्ति (ii) इन्द्रियों के अपने स्वाभाविक गुणों से स्वरूप वृत्ति (iii) सारी इंद्रियों के अहंकार से सम्बन्धित हो जाने से आस्मिता वृत्ति (iv) सत्व, रज और तम इन तीनों गुणों के संयोग के प्रकट होने से अन्वय वृत्ति (v) भोग की कामनाओं से अर्थवत्व वृत्ति होती है। इन पाँचों प्रकार की वृत्तियों का संयमन ही इंद्रिय विजय है।[४] तप संस्कार से इंद्रियाँ विषयों की ओर से हट जाती है। यही ग्रहण वृत्ति का संयम है। पुंड्र संस्कार से इंद्रियों की जो स्वाभाविक, देखना, सुनना, आस्वाद आदि वृत्ति हैं ये सब निर्विकार भाव को प्राप्त हो जाती हैं। यही स्वरूप वृत्ति का संयम है। इंद्रियों के उपभोग में जीव के अहंकार का संयोग हो जाने से मैं सूँघता हूँ, मैं देखता हूँ ऐसा अनुभव हो जाता है, नाम संस्कार हो जाने से, मैं का प्रयोग भगवान के नाम में ही होता है जैसे कि कृष्ण देखता है, कृष्ण सुनता है आदि। इस प्रकार अहंकार का कृष्णमय हो जाना ही अस्मिता वृत्ति का संयम है। स्वामी राम तीर्थ कहा करते थे कि राम जाता है, राम ने ऐसा

---

१. देखें उत्तरार्ध पृष्ठ २४३ श्लोक ८

२. देखें उत्तरार्ध पृष्ठ १८६ में सूत्र ४।१।३। का वाक्यार्थ।

३. **"तस्य प्रशांत वाहिता संस्कारात्"**

पा० यो० सू० ३।१०।

४. ग्रहणस्वरूपास्मितान्वयार्थवत्वसंयमादिंद्रिय जय:

पा० यो० सू० ३।४७।

देखा आदि। मंत्र जप से सत्व, रज तम इन तीनों गुणों के जो संस्कार है उनका निराकरण होता है, मन की निर्मल स्थिति होती है। यही अन्वय वृत्ति का संयम है। इंद्रियों के भोग की कामनाओं को पूर्णरूप से भगवान में अर्पण कर देना ही याग संस्कार है। इसी को अर्थवत्त्व वृत्ति का संयम समझना चाहिए।

वैष्णवीय पाँच संस्कारों से इंद्रियों पर पूर्ण विजय प्राप्त होती है। उसके फलस्वरूप इंद्रियों की मन के समान सूक्ष्म गति, सर्वज्ञता और प्रकृति पर अधिकार प्राप्त हो जाता है।[१] मन के समान गति को ही मनोजव सिद्धि कहते हैं। हनुमान जी को यह स्वाभाविक सिद्धि थी। ताप संस्कार से मनोजवित्व प्राप्त होता है पुंड्र संस्कार से सर्वज्ञता सिद्धि प्राप्त होती है।[२] नाम, मंत्र और याग संस्कार से प्रकृति पर अधिकार प्राप्त होता है।[३] वृत्तियों को संयमित कर हृदय के सूक्ष्माकाश में स्थित कर देना ही धारण है,[४] जिससे कि इंद्रिय वृत्तियों की एकतानता हो जाती है, वही ध्यान है।

**आचार्य मीमांसा**

संस्कारों के फलस्वरूप सांसारिक विषयों से मन विरत हो जाता है तथा इंद्रियाँ विषयोपभोग में अनासक्त होजाती हैं। क्रमशः नित्य, नैमित्तिक और काम्यकर्मों की आसक्ति भी छूटने लगी है। शीत-उष्ण, मान-अपमान, सुख-दुःख आदि में समता का भाव हो जाता है। निद्रा, आलस्य, प्रमाद आदि वृत्तियाँ दूर हो जाती हैं और परमात्मा पर अपार श्रद्धा हो जाती है।[५] परन्तु इन संस्कारों के मूल में आचार का बड़ा महत्त्व है। आचार पालन में आहारशुद्धि की विशेषता है।[६] आहारशुद्धि से जीवात्मा के अंतःकरण की

---

१. **ततो मनोजवित्वं विकरणभावः प्रधान जयश्च**
पा० यो० सू० ३।४८।

२. तंत्र ग्रंथों में अष्टगंध आदि के लेप से सर्वज्ञता का उल्लेख किया गया है।

३. इन पंच संस्कारों का शास्त्रीय एवं वैज्ञानिक विस्तृत विश्लेषण "संस्कार रहस्य" नाम पुस्तक में संगृहीत है।

४. **देशवंधश्चित्तस्य धारणा, तत्र प्रत्यैकतानता ध्यानम्**
पा० यो० सू० ३।१-२

५. श्री निंबार्क जी ने प्रकारान्तर से इन नियमों के पालन को अत्यावश्यक बतलाया है। उत्तरार्ध पृष्ठ १७५ सू० ३।४।।२७ का वाक्यार्थ और टिप्पणी देखें।

६. उत्तरार्ध पृष्ठ १७६ में अधिकरण ७ को देखें।

शुद्धि होती है। अंतःकरण की शुद्धि होने पर ही परमात्मचिंतन हो सकता है।[१] सात्विक, राजस और तामस तीन गुणों के अनुसार तीन प्रकार के आहार बतलाये गए हैं, और उसके परिणाम का भी विवेचन किया गया है।[२] खाद्य पदार्थ की अशुद्धि के तीन प्रकार के दोष माने गये हैं—जाति दोष अर्थात् सात्विक, राजस, तामस गुण वाले पदार्थों के स्वाभाविक दोष आश्रय दोष अर्थात् पतित, अपवित्र भाव और विचार वाले प्राणियों के स्पर्श का दोष। निमित्त दोष अर्थात् अपवित्र केश, नख, धूलि आदि के सम्पर्क का दोष। पदार्थों के जाति दोष का विश्लेषण गीता में किया गया है। आश्रय दोष को आजकल प्रायः लोग महत्व नहीं देते, परंतु मनुष्य के विचार, दृष्टि, स्पर्श, सम्पर्क और सहवास का असर अवश्य पड़ता है। निमित्त दोष तो स्पष्ट है। समय और परिस्थिति के अनुसार आचार में परिवर्त्तन अवश्य होता रहा है। परंतु आचार पालन का महत्व है। आचार के मूल में भोजन की शुद्धि आवश्यक है। भोजन की शुद्धि से विचार-शुद्धि होती है। "आचारः प्रथमो धर्मः"—"आचार वान पुरुषों वेद"—"आचारेण संयुक्तः सम्पूर्ण फल भाग्भवेत्"[३] आदि वाक्यों में तथ्य है। आचारहीन प्राणी या राष्ट्र कभी उन्नतिशील नही हो सकता। सारे राष्ट्र भौतिक उन्नति चाहे कितनी भी कर लें, परंतु जब तक उनके आचरण और विचारों में उन्नति न होगी तब तक वे कष्टानुभूति ही करते रहेंगे। आज सारा संसार दुखी है, जब कि उसके पास सारे भौतिक साधन सुख उपस्थित कर रहे हैं। इसका कारण स्पष्ट है कि संसार के पास सुव्यवस्थित आचार संहिता और उसका आचरण नहीं है। आज एक सार्वभौम आचार संहिता की आवश्यकता है। वैसे किसी राष्ट्र देश या जाति के साहित्य में आचारशास्त्र की कमी नहीं है, परंतु आज वह उपेक्षित है। भारतीय महर्षियों ने ऐसे सार्वभौम नियमों को उपस्थित किया है जिन्हें जाति, देश, काल और निमित्त आदि कारणों से बाँधा नहीं जा सकता।[४] भक्तियोग के नियमों का पालन प्रत्येक जाति, प्रत्येक देश हर समय बिना किसी बंधन के स्वच्छंदतापूर्वक कर सकता।

---

१. **"आहार शुद्धौ सत्व शुद्धिः सत्व शुद्धौ ध्रुवास्मृतिः।"**
छांदो० ७।२६।२

२. देखें गीता १७ अध्याय श्लोक ८।९।१० का अर्थ।

३. आचार्य मुख्य धर्म है—आचार सम्पन्न व्यक्ति ही ब्रह्म को जान सकता है आचार सम्पन्न ही सम्पूर्ण कार्यों में सफल होता है।

स्मृतियों में आचार पालन की सुन्दर व्यवस्था दी गई है। आचार तत्त्व का बड़ा वैज्ञानिक विश्लेषण स्मृतियों में उपस्थित किया गया है।

४. **जाति देश काल समयानवच्छिन्नाः सार्वभौमा महाव्रतम्—**

भक्तियोग की साधना प्रणाली ऐसी परिमार्जित है, जिसमें दुरुहता नहीं है। श्री निंबार्काचार्य जी ने जो उपासना प्रचलित की वह सार्वभौम थी। आचार पालन उनकी उपासना की आधारशिला थी। सदाचार संपन्न व्यक्ति ही ईश्वर के समान महान गुणों वाला हो सकता है यही उनका सिद्धांत था। यदि मनुष्य को अपने में दैवी गुणों को एकत्र करना है तो उसे आध्यात्मिक भक्तियोग की साधना करनी चाहिए। अन्यथा आसुरी प्रवृत्ति तो सामान्यत: सर्व साधारण की प्रवृत्ति है क्योंकि संसार की गति निम्नगामी है। ऊर्ध्व गति के लिये संयम और साधना की आवश्यकता होती है। संयम और साधनाही सफल जीवन की कुंजी है। आचार की प्राथमिकता इसीलिये मानी गई है। श्री निंबार्क जी ने जो पाँच संस्कार प्रचलित किये थे[1] वे व्यावहारिक और सार्वभौम हैं। वास्तव में जीव का परिमार्जन (सफाई) करने वाले ये संस्कार हैं। इन संस्कारों की महत्ता को सभी वैष्णवाचार्यों ने स्वीकार किया है। इन संस्कारों को पालन करने वालों में इस समय कुछ आडंबर अवश्य आ गया है, परंतु संस्कार ही आडंबर है, ऐसा नहीं कह सकते हैं।

---

१. श्रीनिवासाचार्य जी जो कि आचार्य जी के प्रत्यक्ष शिष्य हैं, उन्होंने इस पंच संस्कारों के अन्वेषक आचार्य जी को ही कहा है—'पंच संस्कार दायी" [अर्थात् पाँच संस्कारों को जगत के समक्ष उपस्थित करने वाले] वाक्य इस तथ्य की पुष्टि करता है।

देखें श्री निवासाचार्य कृत लघुस्तवराज—श्लोक २६,

## चतुर्थ अध्याय

# फल सिद्धांत

संसार के असंख्य जीवों के मध्य में मानव ही ऐसा सुबुद्ध प्राणी है जो कि संवेदनशील है । यही मानव की अन्य जीवों से विशेषता है । सांसारिक जीवन का सूक्ष्म पर्यवेक्षण करने के बाद मनुष्य ने अपना दृढ़ मत स्थिर किया कि "जीवन में दुःख ही अधिक है, सुख तो बहुत अल्प मात्रा में है ।"[१] मनुष्य ने मनोनुकूल वेदना को सुख माना तथा मन की प्रतिकूल वेदना को दुख कहा ।[२] यह कसौटी सभी के लिए समान है। जिसकी जैसी वेदना (अनुभव) हुई वैसा ही उसने माना । किसी को मांस खाना अनुकूल प्रतीत हुआ तो किसी के लिए प्रतिकूल । कोई मदिरा पान में सुखानुभूति करता है तो कोई दुःख पाता है । इस परिभाषा के अनुसार तो सुख और दुःख मन माने की बात हुई, जिसको जिसमें सुख मिले वह सुख, जिसमें दुःख मिले वह दुःख है । क्षुद्र प्राणी गाली गलौज बकने में ही सुखी होते हैं जब कि भद्र मनुष्य को ऐसा करने में ग्लानि और क्षोभ होता है । तो यह परिभाषा स्वेच्छाचारी मनुष्यों की ही कही जावेगी ।[३] जो मनीषी हैं उन्होंने सुख की परिभाषा कुछ और ही कही है । उनके मत में काम का सुख और मुक्ति का सुख दो ही सुख हैं ।[४] इसके अतिरिक्त सब कुछ दुःख ही दुःख है । सुख और दुःख आदि वृत्तियाँ मन की ही हैं । इसलिए काम सुख और दिव्य ब्रह्म सुख दोनों की अनुभूति मन में ही होगी । इसीलिए काम को मनोज, मनोभुव, मनसिज आदि नाम दिये गये है । परंतु ब्रह्म को मनोज नहीं कह सकते । श्री

---

१. **"सुखात् बहुतरं दुःखं जीवितै नास्ति संशयः—**

महा० भा० शां० २०५ ।६

२. **अनुकूल वेदनीयं सुखं, प्रतिकूल वेदनीयं दुःखम् ।**

यहाँ वेदना का अर्थ कष्ट नहीं होगा बल्कि वेदना का अर्थ अनुभव होगा ।

३. [श्री निंबार्काचार्य जी ने जीवों की कई प्रकार की श्रेणी मानी है। मनुष्यों में भी वे बद्ध मुक्त, बुभुक्षु आदि अनेक भेद मानते हैं । इस विभाजन के अनुसार उनके मान्य सुख दुःखों का भी श्रेणी विभाजन होगा]

[देखें उत्तरार्ध पृष्ठ २३७]

४. **यच्च काम सुखं लोके यच्च दिव्यं महत्सुखम् ।**

निंबाकाचार्य जी के मत में ब्रह्म, मन आदि का कारण है। ब्रह्म से जीव और जीव से मन तथा मन से अहंकार उत्पन्न होता है। सांसारिक दशा में ये चारों मूर्तिमान रूप से वासुदेव, संकर्षण, प्रद्युम्न और अनिरुद्ध कहलाते हैं। सांसारिक वासना के संयोग से मनोभुव को मन का ही रूप माना जाता है, अर्थात् मन को ही काम कहते है। मन के प्रतीक प्रद्युम्न को काम का अवतार कहा गया है। सांसारिक दशा में जीव से काम की उत्पत्ति मानी गई है। यदि सांसारिक वासना (आसक्ति) को ब्रह्म की ओर लगा दिया जावे तो काम की उत्पत्ति सीधे ब्रह्म से ही होगी जैसा कि वासुदेव कृष्ण के पुत्र प्रद्युम्न के चरित्र से ज्ञात होता है। मन की आसक्ति सांसारिक है तो वह काम है, यदि वह पारमार्थिक है तो प्रद्युम्न है। भागवत (भक्तियोग) के काम का नाम प्रद्युम्न है। काम होता आसक्ति से ही है।[१] काम को ईश्वरीय कर देना ही धर्म है, ऐसा धर्मयुक्त काम ईश्वर का ही रूप है।[२] यही भक्तियोग का चरम सिद्धांत है। धर्मयुक्त काम में पति और पत्नी का पारस्परिक प्रेम संबंध वासनामय नहीं होता अपितु ब्रह्ममय होता है।[३] उनका संतानोत्पत्ति के लिए काम में रत होना भी धर्म है क्योंकि सृष्टि का विस्तार भी परमात्मा की लीला के लिए ही है।[४]

काम को काम के लिए करना ही वासना है। काम को कृष्ण के लिए करना पुरुषार्थ है। काम को काममय करने से काम कष्टदायक हो जाता है। काम को यदि भोग के लिए किया जाता है तो वह स्थूल शरीर को दाहयुक्त ही रखता है। यदि उसे ब्रह्मयोग में परिवर्त्तित कर दिया जाताहै तो वह अपूर्व शीतल रस को प्रवाहित करता है। काम को स्थूल रूप में लाना ही कष्टदायक होता है। सूक्ष्म काम तो सुख है, उस सुख को शांत करने की कोई भी सहृदय सलाह नहीं देगा। काम के लिये ही जो काम होता है, उसी

---

१. **"संगात् संजायते कामः"—**

गीता २।६२

२. **"धर्माविरुद्धोभूतेषु कामोऽस्मि भरतर्षभ"—**

गीता ७।११।

३. **पत्युः कामाय पतिः प्रियो न भवति,**
**आत्मनस्तु कामाय पतिः प्रियो भवति।**
**जायायै कामाय जाया प्रिया न भवति,**
**आत्मनस्तु कामाय जाया प्रिया भवति।**

वृहदा० २।४।५।

४. **लोकवत्तु लीला कैवल्यम्"—** ब्र० सू० २।१।३२।

को शांत करने का प्रयास करना चाहिये।[१] सांसारिक जीव प्रायः स्त्री उपभोग को ही काम मान बैठते हैं जो कि बहुत बड़ी भूल है। भोग तो काम को शांत करने की औषधि है। जैसे कि प्यास लगने पर ठंडा जल पी लेना और भूख लगने पर भोजन कर लेना तृप्तिकारक होता है, उसी प्रकार कामेक्षा होने पर स्त्री सहवास तृप्तिकारक है।[२] औषधि को सुख कदापि नहीं कहा जा सकता, औषधि से रोग-शांति होने पर सुख होता है। स्त्री सहवास भी मन की आधि[३] को शांत करने की एक औषधि है। परंतु औषधि को अल्पमात्रा में सेवन करना ही लाभदायक होता है, अन्यथा अधिक मात्रा से रोग की वृद्धि हो जाती है। औषधि रोग को शांत कर सकती है परन्तु रोग को निर्मूल करना औषधि का कार्य नहीं है। काम सूक्ष्म आंतरिक प्रवृत्ति है इसलिए उसकी पूर्त्ति भी आंतरिक सहवास से ही हो सकती है। हृदय में जहाँ काम की स्थिति है वहाँ प्रिया प्रियतम भगवान श्रीकृष्ण और भगवती राधिका के नित्य साहचर्य विहार के श्रवण और वर्णन तथा उपासना से अति शीघ्र काम रोग की शांति होजाती है।[४] ऐसा भक्ति योग का काम रोग के विषय में निदान है। सांसारिक जीवन में यही सुख है। काम पर विजय पाना ही पुरुषार्थ है। काम को नष्ट कर देना पुरुषार्थ नहीं है। काम पर विजय जभी पाई जा सकती है, जब कि उससे अधिक बलशाली, पराक्रमी, सुन्दर मनोहारी महापुरुष का आश्रय लिया जावे। भगवान विष्णु ही ऐसे महापुरुष हैं, जिनको देखकर करोड़ों काम भी लज्जित हो जाते हैं।[५] जो मन्मथ (मन को मथने वाले) कामदेव के मन को भी मथ

---

१. **न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति।**
**हविषा कृत्स्नवर्त्मेव भूय एवाभि वर्धते॥**
—मनु० २।९४। महा० आ० ७५।५७।

२. **तृषा शुष्यत्यास्ते पिबति सलिलं स्वादु सुरभि,**
**क्षुधार्त्तः सन् शालीन कवलयति शाकादिवलितम्।**
**प्रदीप्ते कामाग्नौ सुदृढ़तरमाश्लिष्यति वधूम,**
**प्रतीकारो व्याधेः सुखमिति विपर्यस्यति जनः॥**
भर्तृहरि—वै० श० ९२।

३. शारीरिक रोग को व्याधि तथा मानसिक रोग को आधि कहते हैं।

४. **विक्रीडितं व्रजवधूभिरिदं च विष्णोः श्रद्धान्वितोऽनुश्रुणुयादथ वर्णयेद्यः।**
**भक्तिं परां भगवतिं प्रतिलभ्य कामं हृद्रोगमाश्वपहिनोत्यचिरेणधीरः॥**
भा० १०।३३।४०।

५. **"सोभा कोटि मनोज लजावन"**— रा० च० मा० २।३२६।१।

चुके हैं।[1] जिनको देखकर काम को भस्म करने वाले शंकर भी कामार्त्त हो जाते हैं।[2] काम भी अपनी चेतना खो देता है। भगवान विष्णु के श्रवण, मनन और निदिध्यासन से सारी कामनायें पूर्ण हो जाती हैं।[3] इसलिए भगवान कृष्ण को आप्तकाम, आत्माराम, पूर्णकाम आदि नामों से स्मरण किया जाता है। काम सुख का प्रारंभ स्त्री सहवास से होता है और कृष्ण सहवास में जाकर पूर्ण होता है। यही श्री निंबार्काचार्य जी का उपासना सिद्धांत है यही उनके प्रियावत भाव का रहस्य है। आचार्य जी ब्रह्मसूत्र ३।४।४७। "कृत्स्नभावात्तु गृहिणोपसंहारः' के वाक्यार्थ में गृहस्थ के सुख को जीवन में प्राप्त करते हुए परमात्मा के बहुत सुख में पूर्णता बतलाकर मोक्ष बतलाते हैं और गृहस्थ धर्म में ही जीवन की सार्थकता बतलाते हैं।

केवल सांसारिक सुख में जीवन पर्यन्त रत रहने का फल दुःखदायी होता है क्योंकि वह स्थूल इंद्रियों के संयोग से प्राप्त होता है। दृश्यमान स्थूल सभी वस्तुएँ नाशवान हैं अतः उनसे होने वाले सुख भी नाशवान ही होंगे। इंद्रियों के संयोग से प्राप्त सुख क्षणभंगुर होता है। सांसारिक सुख को परमात्म सुख से संलग्न कर देना ही ब्रह्मयोग है। ब्रह्मयोग का सुख ब्रह्म के समान अनंत, शाश्वत है। उसकी साधना कुछ क्लिष्ट अवश्य है, परंतु उसका फल सुखदायी ही होता है।[4] सांसारिक सुख को जबरन त्यागकर

---

१. रास लीला में भगवान कृष्ण ने कामदेव का मथन कर दिया था अतः साक्षात् मन्मथ मन्मथः, अवरुद्ध सौरतः आदि कहा गया—

देखें भाग० १०।२९ से ३३ अध्याय

२. मोहिनी अवतार के दर्शन कर शंकर मोहित हो गये थे।

देखें भागवत ८ में मोहिनी चरित्र।

अमृत मंथन की कथा रहस्यमय है। भगवान की प्रेरणा से कराया गया अंतःकरण कीकामना का मंथन है। जिन्होंने उसे पूर्णरूप से मंथन कर दिया वह देवता थे, उन्हें अमृत प्राप्त हुआ। जो मंथन करने पर भी काम के वशीभूत रहे उन्हें अमृतत्व न प्राप्त हो सका वे दैत्य थे। अमृत का कलश काम की प्रतीक मोहिनी के पास ही था, दैत्य उनके मोह में उसे प्राप्त न कर सके, देवता उसको देखकर मोहित न हुए इसलिए अमृत पाकर अमर हो गये।

३. मोहिनी रूप विष्णु को देखकर शंकर जी का काम पूर्ण हो गया अतः वे उनकी प्रार्थना में उन्हें "कामपूरं नतोस्मि" कहते हैं।

४. **विषयेंद्रिय संयोगाद्यत्तदग्रेऽमृतोपमम्।**
**परिणामे विषमिव तत्सुखं राजसंस्मृतम्॥**
**यत्तदग्रे विषमिव परिणामेऽमृतोपमम्।**
**तत्सुखं सात्विकं प्रोक्तमात्मबुद्धि प्रसादजम्॥**

गीता १८।३७—३८॥

ब्रह्मसुख को प्राप्त करना अधिक क्लिष्ट है, क्योंकि किसी भी वस्तु का आस्वाद लिये बिना उसकी तृप्ति का अनुभव कैसे किया जा सकता है वैषयिक सुख का आस्वाद करने पर ही ब्रह्मसुख की तृप्ति प्राप्त हो सकती है। सगुण शरीर की प्रकृति से कोई छूटकर जा भी कहाँ सकता है। सभी को गुणों के चक्र में फँसना पड़ा है।[1] ऋषियों और कामारि भगवान शंकर का वैषयिक सुख की ओर बलपूर्वक खिचाव हुआ इसका क्या तात्पर्य है? क्यों वे अपनी साधना में सफल हुए? इन उदाहरणों से स्पष्ट है कि सांसारिक कर्मों का त्याग वैराग्य नहीं है अपितु सांसारिक कर्मों का ब्रह्मयोग ही त्याग है। वैषयिक सुख को अभ्यास द्वारा धीरे-धीरे छोड़ते हुए ब्रह्ममय कर देना ही सहज साधना है। सांसारिक सुख दु:ख प्रिय अप्रिय सभी को हृदयस्थ परमात्मा के सुख में लीन कर देना ही साधना है।[2] दु:खों का चिंतन न करना ही दु:ख से मुक्ति पाने की औषधि है।[3]

संसार को दु:ख प्रधान मानकर झीकना और उसे छोड़कर भागने का प्रयास करना बहुत बड़ी कायरता और मूर्खता है। संसार के कर्त्तव्य कर्मों का दृढ़तापूर्वक पालन करते हुए सांसारिक दु:खों का हृदय में समन करना जीवन सफलता का मार्ग है। श्री निंबाकाचार्य के मत में हृदय में परमात्मा का महासुख विद्यमान है, उसी को जानने की चेष्टा करनी चाहिये। उसको जान लेने पर दु:ख नाम की कोई वस्तु रह ही न जावेगी। सांसांरिक दु:खों से छूटने का हित स्थल हृदय ही है। महर्षि पतंजलि ने आत्मोद्धार के लिये दो साधनायें प्रस्तुत की थीं, एक तो अष्टांग योग का साधन, दूसरा ईश्वर प्राणिधान। भागवत धर्म ने ईश्वर प्राणिधान को स्वाभाविक साधन माना और उसी का उपदेश दिया। भगवान श्री निंबार्काचार्य जी ने योग और ईश्वर प्राणिधान दोनों के सहभाव से संपन्न भक्तियोग का उपदेश दिया जिसमें चिदानंद संवलित प्रेम भाव की साधना है। इस प्रेमभाव में द्वैत और अद्वैत दोनों अवस्थायें रहती है। प्रेमी, प्रेमिका और प्रेम तीनों का एक्य हो जाना ही इसकी अद्वैत अवस्था है। चिदंश ही ज्ञानभाव है, ज्ञानवादी जब

---

१. न तदस्ति पृथिव्यां वा दिवि देवेषु वा पुनः।
सत्वं प्रकृतिजैर्मुक्तं यदेभिः स्यात्त्रि भिर्गुणैः॥

गीता० १८।४०

२. सुखं वा यदि वा दुःखं प्रियं वा यदि वाऽप्रियम्।
प्राप्तं प्राप्तमुपासीत् हृदयेनापराजितः॥

महा० शां० २५।२६॥

३. "भैषज्यमेतद् दुःखस्य यदेतन्नानुचिंतयेत्"

महा० शां० २०५।२॥

केवल चिदंश पर ही बल देते हैं तो वे ज्ञानमार्गी कहलाते हैं। आनन्द अंश पर बल देने वाले भक्त कहलाते हैं। प्रेमभाव जो कि ज्ञान और आनन्द दोनों भावों के बाद, दोनों के संवलित रूप से प्रकट होता है, उसमें चित् व आनन्द का तथा ज्ञान और भक्ति का सामंजस्य रहता है।[1] पातंजल योग दर्शन की साधना ज्ञानमार्ग की है जिसमें समाधि के द्वारा चिदंश के साक्षात्कार की क्रिया का उल्लेख है। ईश्वर प्राणिधान भक्तिमार्गी साधना है जिसमें आत्मसमपर्ण के द्वारा आनंद अंश की उपलब्धि होती है। प्रेमभाव की साधना में रत स्वरूप ब्रह्म के बहुल सुख की अनुभूति होती है। म० म० डा० गोपीनाथ जी ने भी ऐसा ही कहा है।[2] "भक्त दो प्रकार के हुए हैं—एक वे जो भक्ति को केवल भावरूप से पहचानते हैं दूसरे वे जो रस रूप से उसकी अनुभूति करते हैं, जिनका उद्देश्य भगवद्धाम में प्रविष्ट होकर भागवत सेवा का आनंद लेना है उनके लिये रागमार्ग श्रेयस्कर है।" इस प्रकार प्रेममार्ग में सांसारिक राग को भगवच्चिंतन का माध्यम बनाया जाता है जिससे कि राग ही प्रेमरस के रूप में परिणत हो जाता है। श्री निंबार्क संप्रदाय के भक्त कवि जयदेव ने इसी भाव में गीतगोविंद का गान किया है।[3]

धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष चार पुरुषार्थों में आस्तिक की दृष्टि में धर्म ही अन्य पुरुषार्थों की जड़ है तथा मोक्ष अंतिम पुरुषार्थ है। उसी की प्राप्ति के लिये अन्य तीनों पुरुषार्थों का संचयन किया जाता है। धर्म, अर्थ और काम ही सत्यं शिवं और सुन्दरं है। सत्य की भित्ति पर ही शिव और सुन्दर की स्थिति है। इन तीनों की सविध कृति से ही मोक्ष की प्राप्ति होती है। आर्थिक सुख की उपलब्धि के लिये धार्मिक सदाचरण की आवश्यकता है। अपने कर्त्तव्य कर्मों का पालन ही धर्म है। काम्य सुख की उपलब्धि भी धर्म पर ही आधारित है। सृष्टि के ईश्वरीय विधान के संचालन के लिये ही काम्य कर्मों का पालन धर्म है। यही ब्रह्मसुख को प्राप्त करने की प्रथम सीढ़ी है, इसीलिए इसे गृहस्थाश्रम में ब्रह्मचर्य कहा गया है।[4] धर्म बीज है तो मोक्ष

---

१. इसकेलिये विशेष रूप से कल्याण के शिवांक में महामहोपाध्याय डा० गोपीनाथ जी कविराज का लेख दृष्टव्य है।

२. "ग्लीनिंग्स फ्राम दि तंत्राज" की भूमिका दृष्टव्य।

३. **यदिहरिस्मरणं सरसं मनो, यदि विलासकलासुकुतूहलम्।**
**मधुर कोमल कांतपदावली, भृणु तदा जयदेव सरस्वतीम्॥**
गीत गोविंद

४. **ऋतावृतौ स्वदारेषु संगतिर्याविधानतः।**
**ब्रह्मचर्यतदैवोक्तं गृहस्थाश्रमवासिनाम्॥**
याग्यवल्क्य स्मृति

फल है । अर्थ वृक्ष है तो काम पुष्प है । काम रूपी पुष्प से ही मोक्ष रूपी धर्म के फल का उदय होता है ऐसा ही मनीषी ऋषियों ने शास्त्रों नें निर्णय किया है ।[१] धर्म, अर्थ और काम का सदुपयोग सुखदायक है तथा दुरुपयोग दुःखदायी है । धर्म का फल मोक्ष है, उसकी सार्थकता अर्थ प्राप्ति में नहीं है । अर्थ केवल धर्म के लिये है भोग विलास उसका फल नहीं है ।[२] भोग विलास का तात्पर्य इंद्रियों को तृप्त करना नहीं है, उसका प्रयोजन केवल जीवन निर्वाह है । जीवन का फल तत्व जिज्ञासा है, स्वर्गादि प्राप्त करना उसका फल नहीं है ।[३] इस प्रकार धर्म को अर्थ से, काम को मोक्ष संलग्न कर देने से जीवन मे सुखानुभूति होती है । इद्रियों के उपभोग में संलग्न वृत्ति को काम कहते हैं । उस काम का आत्मा के उपभोग में लग जाना ही हित है । उसी में पूर्णकाम का सुख मिलता है । इसी प्रकार सांसारिक पदार्थों के उपभोग में संलग्न वृत्ति को लोभ कहते हैं । उस लोभ का प्राणिमात्र की सेवा के भोग में लग जाना ही हित है ।[४] उसी में पूर्ण काम का आभास मिलता है । पहला भक्तियोग है, दूसरा कर्मयोग है । काम और लोभ इन दोनोंकी पूर्त्ति न होने पर मन में क्रोध का जन्म होता है और फिर उससे नाश की परंपरा चालू हो जाती है ।[५] इसीलिये इन तीनों को नर्क का द्वार कहा गया है और इन्हें त्यागने की सलाह दी गई ।[६] आत्मा के पतन के ये तीनों प्रधान द्वार हैं । श्री निंबार्क के मत में इन तीनों को परमात्मा के बहुल सुख में निमग्न कर देना ही आत्मोद्धार की साधना है । नास्तिक चार्वाक मत में

---

१. **धर्मादर्थोऽर्थतः कामः कामाद्धर्म फलोदयः ।**
**इत्येवं निर्णयं शास्त्रे, प्रवदंति विपश्चितः ।।**

पद्म पुराण

२. **धर्मस्य ह्यापवर्गस्य नार्थोऽर्थायोपकल्पते ।**
**नार्थस्य धर्मैकांतस्य कामो लाभाय हि स्मृतः ।।**

भागवत १।२।९

३. **कामस्य नैन्द्रिय प्रीतिर्लाभो जीवेत यावता ।**
**जीवस्य तत्त्व जिज्ञासा नार्थो यश्चेहकर्मभिः ।।** भागवत १।२।१०।।

४. **"सर्वभूत हिते रतः"**

५. **संगात् संजायते कामः कामात् क्रोधोभिजायते,**
**क्रोधाद् भवति संमोहः, संमोहाद् स्मृति विभ्रिमः,**
**स्मृति भ्रंशाद् बुद्धि नाशो, बुद्धिनाशात् प्रणस्यति ।**

६. **त्रिविधंनरकस्येवं द्वारंनाशनमात्मनः ।**
**कामः क्रोधस्तथालोभस्तस्मादेतत् त्रयंत्यजेत् ।।**

गीता० २।६२—६३ ।।१६।२१ ।।

अंगनालिंगन जन्य काम सुख को पुरुषार्थ कहा गया है, श्री निंबार्क के मत में इस सुख को प्रियावत भाव से परमात्मा के शाश्वत सुख से संयोग कर देना ही पुरुषार्थ है। यही काम की पूर्णकामता है। लोभ को त्याग करना कठिन है। परंतु मित्रवत भाव को दृढ़तापूर्वक पालन करने से लोभ की प्रवृत्ति शांत हो जावेगी। इसी प्रकार क्रोध की प्रवृत्ति भी अजेय है। अपने में दैन्य वृत्ति को प्रकट कर दास्यवत भाव की भावना करने से क्रोध की वृत्ति शांत हो सकती है। सांसारिक जीवन में दास्य या सख्य भाव में अहं (मैं) और मम (मेरा) का रोड़ा अटक जाता है, इसलिये परमात्मा के प्रति इन भावों का अभ्यास करना चाहिए। उस अभ्यास की पुष्टिसे सांसारिक व्यवहार में स्वत: ही सख्य और दास्यभाव होजावेगा-यही श्री निंबार्क जी का मत है। यही श्री निंबार्क का प्रवृत्ति मार्गी भागवत धर्म है निवृत्त या त्याग नहीं है। ज्ञानमार्गीय की दृष्टि में जो त्याज्य है, प्रेममार्गी की दृष्टि में उसको परमात्मा से युक्त कर देना ही हित या श्रेय है।

श्री निंबार्काचार्य जी के मत में औपाधिक ब्रह्म भूमा है, जीव अहंकार है, निरुपाधिक चिन्मात्र ब्रह्म परमात्मा है। अविद्या प्रतिबिम्ब रूप जीव के आश्रित अविद्या, काम। कर्म के अनुसार इस लोक और परलोक में कहीं भी न रुकने वाला अहंकार ही अनिरुद्ध है। अर्थात् अज्ञान और मोह से आबद्ध जीव ही अहंकार कहलाता है। इसकी प्रवृत्ति विषयोपभोग की ओर ही होती है। यही कर्म के बन्धन और मोक्ष तथा सुख और दु:ख का अनुभव करता है।[१] इस अहं को भूमा में मग्न कर देने से तन्मयता होती है फिर प्रेम के उद्रेक में संपूर्ण विश्व भूमा ब्रह्म रूप ही दीखता है। प्रेमी साधक न दूसरे को देखता है, न दूसरे को सुनता है, न दूसरे को जानता है।[२] उसी भूमा में स्व-पर-विस्मृति से वह अपने आपको ही भगवान् समझने लगता है। उसी को देखता, सुनता, बोलता और सोचता है।[३] जैसे कि गोपियाँ कृष्ण प्रेमोन्माद में विह्वल होकर अपने आपको कृष्ण समझने लगी थीं।[४]

---

१. अहमित्येव योवेद्यः स जीव इति कीर्त्तितः।
स दुःखी स सुखी चैव स पात्रं बंध मोक्षयोः॥

२. "यत्र नान्यत् पश्यति, नान्यच्छृणौति, नान्यत् विजानाति"
छां० उप०

३. तत्प्राप्य तदेवावलोकयति, तदेव शृणोति,
तदेव भाषयति तदेव चिन्तयति"
नारद भक्ति सूत्र ५५।

४. "असावहं त्वित्यबलास्तदात्मिका न्यवेदिषुः कृष्ण विहार विभ्रमाः"
भागवत १०।३०।३॥

तन्मयता में उन्हें स्व की स्मृति न रही।[1] अद्वैत भाव हो जाने के कारण अपने हृदय की बात को वह कहने में असमर्थ हो गईं। बाह्य और आभ्यतंर दोनों में हरि ही हरि की अनुभूति होने लगी।[2] इस स्थिति में साधक को क्रमशः ऐसी अनुभूति होती है कि "ऊपर नीचे वही है, ऊपर नीचे सब जगह मैं हूँ, ऊपर नीचे सब आत्मा है। साराविश्व वह है, मैं ही सारे विश्व में हूँ; आत्मा ही विश्व में सब कुछ हैं।"[3]

भूमा साधना में मन की वृत्तियों को अंतर्मुखी करके मन में ही ज्ञान आत्मा अर्थात् अहमर्थ (मैं) का चिंतन करना चाहिये। "जानता इति ज्ञानम्" इस व्युत्पत्ति से ज्ञान का जानने वाला अहं (मैं) होता है। इस अह को भी सूक्ष्म अहं अर्थात् अस्मिता में लय करना चाहिये। मैं कर्त्ता, मैं भोक्ता, मैं सुखी दुःखी, यह मैं का स्थूल रूप है। अस्मि (केवल हूँ) यह मैं का सूक्ष्म रूप है, यही महान् जीवात्मा है। इस अस्मिता को भी शुद्ध, बुद्ध, नित्य, मुक्त भासक आत्मा में लीन कर देना चाहिये, तब मैं भी समाप्त हो जावेगा। जीव भी तद्‌वत् अर्थात् परमात्मा के समान हो जाता है। यही तथ्य कठोपनिषद १।३।१३। में कहा गया है—

**यच्छेद्‌वाङ्मनसी प्राज्ञस्तद्‌यच्छेज्ज्ञानमात्मनि।**
**ज्ञानमात्मनि महति नियच्छेत्तद्यच्छेच्छांत आत्मनि ।।**

अहं, अस्मि और इन दोनों से रहित, सब जीवात्मा का ही रूप है। परंतु जीव की एक बद्धावस्था है दूसरी मुक्तावस्था है।[4]

---

१. **"केवल तन्मय भई कछु न जानैं हम को हैं।"**

रास पंचाध्याय-नंददास

**"अपनी हू सुधि ना रही रह्यो एक नंदलाल।"**

रास पंचाध्याय-नंददास

२. **"को कासे केहि विधि कहा कहै हृदय की बात"**
**"हरि हेरत हिय हरि गयो, हरि सर्वत्र लखात"**

रास पंचाध्याय-नंददास

३. **"स एवाधस्तादहमेवाधस्तादात्मेवाधस्तात्"**
**"स एवेदं सर्वम, अहमेवेदं सर्वम् आत्मैवेदं सर्वम्"**

४. अविद्योपाधिक (वासनाबद्ध) जीव को "स्थूलारुन्धती न्याय" से अहंकार शब्द से संबोधित किया जाता है। जैसे कि अरुन्धती तारा के निकट रहने वाले स्थूल तारा को ही प्रथम दिखलाया जाता है फिर दृष्टि जम जाने पर उसके निकटवर्ती अरुन्धती को दिखलाया जाता है। वैसे ही अहंकार शब्द से बद्धजीव के स्वरूप को दिखलाकर शुद्ध चैतन्य अहंकाराश्रय जीव को समझाया जाता है। उत्तरार्ध पृष्ठ ९० और ९१ तथा २३७ पृष्ठ दृष्टव्य।

महा विक्षेप काल (सांसारिक बद्धावस्था) में भी सब कुछ भगवान ही है, इस बुद्धि से शांति मिलती है।

**"सर्वं खल्विदं ब्रह्म तज्जलानितिशांत उपासीत्"।**[१]

अर्थात जैसे तरंग, लहर, बुदबुद् आदि जल राशि से उत्पन्न उसीमें स्थित और उसी में लीन होते हैं अतः जल स्वरूप ही हैं, वैसे ही दृश्य अदृश्य जगत स्व प्रकाश, सतस्वरूप ब्रह्म से ही उत्पन्न उन्हीं में स्थित है और उसी में लीन होता है, सब कुछ भगवान् ही हैं। ऐसी भावना आते ही राग द्वेष, वैमनस्य, उद्वेग आदि मिटकर ध्रुव शांति मिलती है। मनोमय भूमा स्वरूप परमात्मा में मनोवृत्तियों को लीन करने से ही ऐसी भावना होती है।[२] मनोगत सुखको जागतिक व्यवहार में आरोपित कर देने से जीव की संपूर्ण काम आदि प्रवृत्तियाँ शांत हो जाती हैं। जैसे कि नदियो के जल अचल समुद्र में जाकर पूर्ण हो जाते हैं। वैसे ही साधक के काम आदि विकार हृदयस्थ ब्रह्मसुख में जाकर पूर्ण होकर शांति प्राप्त करते हैं। काम के लिये काम की इच्छा वाले अर्थात् इंद्रियोपभोग के लिए कामुक व्यक्ति को शांति नहीं मिलती।[३] जिनकी संपूर्ण वृत्तियाँ परमात्मा के भूमा सुख में लीन हो जाती हैं, फिर उनकी वृत्तियाँ संसार की ओर लौटकर नहीं जातीं, जैसे कि भुने या उबले हुए बीज में अंकुर नहीं होता।[४] यह जीव की ब्राह्मी स्थिति है, इस स्थिति में मोह होता ही नहीं। इस स्थिति में निरंतर स्थिर रहने से मरने के बाद मोक्ष प्राप्त होता है।[५] भगवान की लीला का निरंतर चिंतन करने से ही नित्य ब्राह्मी स्थिति रहती है। इस तथ्य को "उपासनीयं चिंतन करने से ही नित्य ब्राह्मी स्थिति रहती है। इस तथ्य को "उपासनीय नितरां जनैः

१. छांदोग्योपनिषद् ३।१४।१॥

२. इस तथ्य को उत्तरार्ध पृष्ठ १६ में देखें।

३. **आपूर्यमाणमचल प्रतिष्ठं समुद्रमापः प्रविशंति यद्वत्।**
**तद्वत्कामा यं प्रविशंति सर्वे स शांतिमाप्नोति न काम कामी॥**
गीता २।७०॥

४. **न मय्यावेशितधियो कामः कामाय कल्पते।**
**भर्जिता क्वथिता धाना प्रायो बीजाय नेष्यते॥**
—भागवत १०।२२।२६॥

५. **एषा ब्राह्मी स्थितिः पार्थ नैनां प्राप्य विमुह्यति।**
**स्थित्वास्यामंत कालेऽपि ब्रह्म निर्वाण मृच्छति॥**
गीता २।७२॥

सदा"[१] इस वाक्य में श्री निंबार्काचार्य जी ने व्यक्त किया है। हृदयस्थ वृन्दावन में प्रिया प्रियतम और प्रेम इन तीनों की एकत्र समवेत स्थिति का चिंतन ही उपासना है। इस स्थिति में अखिल माधुर्य मूर्ति अखंड रस स्वरूप परमात्मा की अनवरत लीला चलती रहती है। इस स्थिति की चरमावस्था में साधक, साध्य और साधना इन तीनों का भेद मिट जाता है केवल प्रेम ही प्रेम रह जाता है। साधक नित्य दास या नित्य कान्ताभाव से उस अखंड प्रेम रस का आस्वादन कर आनंदित रहता है।[२] स्वामी हरिदास जी एवं हित हरिवंश जी के शब्दों में यह हृदयस्थ नित्य वृन्दावन निधिवन और सेवाकुंज है, जहाँ निरंतर नित्य बिहार चलता रहता है—

**(१) निधिवन सुख की खानि है शोभा परम अपार।**
**काम केलि बरषत रहें, निरवधि नित्य बिहार॥**

**(२) चंद मिटैं दिनकर मिटै मिटै त्रिगुण विस्तार।**
**दृढ़व्रत श्री हरिवंश को मिटै न नित्य बिहार।**

स्वामी हरिदास जी एवं हरिवंश जी की नित्य बिहार की भावना भगवान निंबार्काचार्य जी के नितरां और सदा पद का द्योतन करती है। श्री निंबार्क संप्रदाय में बिहारी जी की उपासना इसीलिए होती है।[३] राधावल्लभ और राधारमण की युगुल मूर्त्ति का रहस्य भी नित्य बिहार का ही है।[४] इस नित्य बिहार का चिंतन ही परमात्मा का हितचिंतन है। हितचिंतन में हितैषी परमात्मा के साहचर्य से क्षणमात्र भी वियोग न हो यही साधक की साधना होती है। साहचर्य ही उसका ब्रह्मचर्य है। साधक स्वर्ग, ब्रह्मलोक, भूलोक, रसातल आदि के राज्य अथवा सिद्धियों की कामना नहीं

---

१. नारद भक्ति सूत्र ७७ में भी इसी तथ्य को कहा है—
**"सुख दुःखेच्छा लाभादि त्यक्ते काले प्रतीक्ष्यमाणे क्षणार्धमपि व्यर्थं न नेयम्"**

२. **त्रिरूप भंगपूर्वकं नित्यदास नित्य कांता भजनात्मकं वा प्रेमैव कार्यम् प्रेमैव कार्यम्॥**

नारद भक्ति सूत्र ६६।

३. भारतवर्ष के सभी निंबार्कीय उपासना स्थलों पर श्री बिहारी जी की उपासना होती है।

४. श्री राधारमण जी के उपासकों में भी नित्य वृन्दावन के नित्य विहार की उक्ति प्रसिद्ध है—श्री राधारमण भट्ट गोपाल, श्री वृन्दावन नित्य विहार।'

करता यहाँ तक कि उसे मोक्ष की भी कामना नहीं रहती ।[१] ऐसे अनन्य प्रेमी को करुणा वरुणालय हितैषी प्रभू स्वर्ग आदि के ऐश्वर्य देते भी नहीं, क्योंकि ऐश्वर्य से तो द्वेष, उद्वेग, आधि (मानसिक पीड़ा) अभिमान कलह, दुःख और परिश्रम ही प्राप्त होते हैं । यदि प्रेमी साधक कभी धर्म, अर्थ और काम आदि को प्राप्त करने की चेष्टा करता भी है तो उसको वे हितैषी प्रभु भंग कर दिया करते हैं । भक्त इससे परमात्मा की अत्यन्त कृपा का अनुमान लगा लेता है । सामान्य सांसारिक एषणाओं के भूखे प्राणी तो इस महती कृपा का अनुभव कर ही नहीं सकते ।[२] हितैषी प्रभु तो अपने प्रेमियों को प्रेममय ही देखना चाहते हैं । प्रेम के साम्राज्य में नेम रह भी नहीं सकता । जिसने हित प्रेम का रसास्वादन कर लिया है वह सांसारिक एषणाओं की वान्छा नहीं करता अतएव शोक रहित रहता है, किसी सांसारिक वस्तु में उसकी आसक्ति नहीं रहती, इसलिये उन वस्तुओं की प्राप्ति के लिए उसे उत्साह नहीं होता ।[३]

भक्त वत्सल सदा यही चाहते हैं कि उनका भक्त समान हृदय एवं शोभन हृदय वाला हो तथा विद्वेष रहित होकर एक दूसरे का उपकारक बन जावे । उनकी यह वत्सलता गौ के समान होती है जैसे कि वह अपने वत्स से प्रेम करती और हित चाहती है ।[४] भक्त भी प्रभु की इस वत्सलता और हिततमत्व की निरन्तर कामना करता है और मन को उसी में मग्न कर देना चाहता है ।[५]

---

१. न नाक पृष्ठं न च पारमेष्ठ्यं न सार्वभौमं न रसाधिपत्यम् ।
न योगसिद्धिर्न पुनर्भवं वा समंजस्य त्वां विरहय्य कांक्षे ।
भाग० ६ ।११ ।।२५

२. पुंसा किलैकांतधियां स्वकानां याः संपदोदिवि भूमौ रसायाम् ।
न राति यद् द्वेष उद्वेग आधिर्मदः कलिर्व्यसनं संप्रयासः ।।
त्रैवर्गिकायास विघातमस्मत् पतिर्विधत्ते पुरुषस्य शक्र ।
ततोऽनुमेयो भगवत्प्रसादो योदुर्लभोऽकिंचनगोचरोऽन्यैः ।।
भागवत—६ ।११ ।२२—२३ ।।

३. यत्प्राप्य न किंचिद् वान्छति न शोचति न द्वेष्टि न रमते नोत्साही भवति"
नारद भक्ति सूत्र ५

४. सहृदयं सौमनस्यमविद्वेषम् कृणोमि वः ।
अन्यो अन्यमभिहर्यत वत्सं जातमिवाघ्न्या ।।
अथर्ववेद ३ ।१० ।१ ।।

५. अजातपक्षा इव मातरं खगाः स्तन्यं यथा वत्सतराः क्षुधार्त्ताः ।
प्रियं प्रियेव व्युषितं विषण्णः मनोऽरविंदाक्ष दिदृक्षते त्वाम् ।।
भा० ६ ।११ ।५६ ।।

श्री निंबार्काचार्य जी के मत से यह जीवात्मा की मुक्ति की प्राथमिक अवस्था है जिसे वेदांत की भाषा में क्रममुक्ति कहते हैं। इस अवस्था में जीवात्मा के संचित और क्रियमाण दोनों प्रकार के कर्मों के बंधन छूट जाते हैं। केवल प्रारब्ध कर्मों का भोग शरीर के नष्ट होने तक रह जाता है, उसके मुक्त होने में तभी तक विलंब रहता है जब तक कि शरीर पात नहीं होता।[१] शरीरांत होने पर जीवात्मा स्वतंत्र हो जाता है।[२] उसका सूक्ष्म शरीर जो कि प्रभु के गोलोक धाम तक के लिये रहता है, वहाँ पहुँचने पर उसकी भी समाप्ति हो जाती है, फिर वह सदा के लिये पाप और पुण्य के बंधन से मुक्त हो जाता है।[३] परमात्मा के साहचर्य से मुक्तात्मा की सामर्थ्य में वृद्धि हो जाती है और वह अपने को अनन्त रूपों से प्रकट कर सकता है।[४] मुक्तात्मा का ऐश्वर्य सांसारिक ऐश्वर्य से भिन्न निराला ही होता है।[५]

मुक्तात्मा गोलोक धाम में परमात्मा के साथ कामनाओं को प्राप्त करता है।[६] परमात्मा के समान ज्योतिष्मान रूप को प्राप्त कर जीवात्मा पुनः इस जगत के बंधन में नहीं पड़ता।[७]

भगवान श्री निंबार्काचार्य जी के प्रतिपाद्य मोक्ष सिद्धांत में निरंतर हृदयस्थ वृन्दावन की उपासना ही रसोपासना है, यही जीवन का सार है। भगवती श्री राधिका और सच्चिदानंदघन परमात्मा श्री कृष्ण की कथाओं का निरंतर गान, स्मरण और ध्यान ही जीवन का बहुल भूमा सुख है। यही सुखी जीवन का हित है। परम हितैषी प्रभु के कृपा पात्र सांसारिक बद्ध जीवों के हितचिंतक भगवान श्री निंबार्क ने हितमय प्रेमरस को पिलाकर संसार कर बड़ा हित किया है जिसको पानकर उनके चरणरज के उपासक

---

१. **"तस्य तावदेव चिरं यावन्नविमोक्षेऽथ संपत्स्ये"**

छांदो० ६।१४।२॥

२. **"स स्वराड् भवति**—छांदो० ७।२५।२॥

३. **"अशरीरं वाव संतं न प्रियाप्रिये स्पृशत"**

छांदो० ८।१२।२॥

४. **"स चानंत्याय कल्पते"**—छांदो० ७।२६।२॥

५. **"जगत व्यापार वर्ज्यमुक्तैश्वर्यम्।"**

उत्तरार्ध पृष्ठ २०६ से २१५ तक देखें।

६. **"सोऽश्नुते सर्वान् कामान् सह ब्रह्मणा विपश्चिता"**

तैत्तरीयो० ब्रह्मा० १ अनुवाक

७. **"एतेन प्रतिपद्यमाना इमं मानवं आवर्त्तं नावर्त्तन्ते"**

वृहदा० ६।२।१५॥

भक्त भी साक्षात् हित रूप हो गये और उन्होंने जीवन पर्यन्त हित लीला का ही सदा गान किया—

**सदा गायं गायं मधुरतर राधा प्रिय यशः।**
**सदा सांद्रानंदानवरसद राधापति कथाः॥**
**सदा स्थायं स्थायं नव निभृत राधा रतिवने।**
**सदा ध्यायं ध्यायं विवश हृदि राधापदः सुधाः॥**[१]

हंस संप्रदाय की परंपरित "उपासनीय नितरांजनैः सदा" इस भावमय उक्ति का संपूर्ण रहस्य हित के इस गान में निहित है। समस्त वैष्णव समाज ने सदा समवेत स्वर से हित के गान में अपना स्वर मिलाकर अपना हित सम्पादन किया है।

भगवान श्री निंबार्काचार्य जी के वेदांत सिद्धांत का यही रहस्य है। इसी की सुरभि "वेदांत पारिजात सौरभ" में है।

---

१. मैं विवश हृदय होकर परमाराध्या भगवती श्री राधा के मधुरतर प्रिय यश तथा सांद्रानंद घन रस स्वरूप, सदा प्रेमी भक्तों को रस से आनंदित करने वाले राधा के हितैषी की कथाका गान, निकुंज लीला का दर्शन और राधा के चरणामृत का ध्यान और पान सदा करुँ" [यही मेरी वाञ्छा है] राधा सुधानिधि १५३. हित हरिवंश।
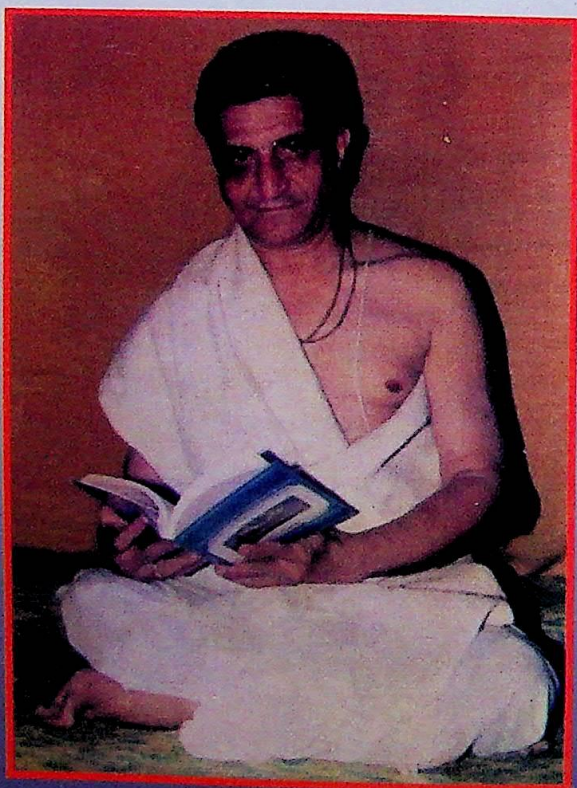
अनन्त श्री जगद्गुरु निम्बार्काचार्य
गोस्वामी श्री ललित कृष्ण जी महाराज
(1932-1991)